नागार्जुन के उपन्यास और युगीन सन्दर्भ

(एम.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध)

शोध-निर्देशक

डॉ० ओम प्रकाश सिंह

शोध-छात्र

जैनेन्द्र कुमार पाण्डेय

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा,साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

1999

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
School of Language, Literature & Culture Studies
NEW DELHI - 110067, INDIA

Centre of Indian Languages

July 21, 1999

DECLARATION

I declare, that the material in this Dissertation entitled- **"NAGARJUN KE UPANYAS AUR YUGIN SANDARBH"** submitted by me is original Research work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other University / Institution.

JAINENDRA KUMAR PANDEY
(Name of the Scholar)

(DR. O.P. SINGH)
Supervisor
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
J.N.U. New Delhi-110067

(PROF. NASEER AHMAD KHAN)
Chairperson
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
J.N.U. New Delhi-11006

GRAM : JAYENU ; TEL.:(91-011) 6107676, 6167557, Extn. : 2217, FAX : (91-011) 6165886, 6106025

समर्पित ः

.....स्वर्गीया माँ को सादर!

विषयानुक्रमणिका

		पृष्ठ संख्या
भूमिका		अ - उ
अध्याय - 1 :	उपन्यास और युगबोध	1 - 32
अध्याय - 2 :	नागार्जुन के उपन्यास और युग चेतना	33 - 89
	(i) नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित युगीन परिस्थितियां	
	(ii) नागार्जुन की विचारधारा	
अध्याय - 3 :	नागार्जुन की औपन्यासिक कला	90 - 113
	(i) नागार्जुन के उपन्यासों की संरचना	
	(ii) नागार्जुन के औपन्यासिक शिल्प की सीमाएं	
अध्याय - 4 :	नागार्जुन : एक आलोचनात्मक विश्लेषण	114 - 126
	(i) कवि नाम उपन्यासकार	
	(ii) उपन्यासकार नागार्जुन का महत्व	
उपसंहार		127 - 137
ग्रन्थानुक्रमणिका		138 - 141
	परिशिष्ट (क) : आधार ग्रन्थ	
	परिशिष्ट (ख) : सहायक ग्रन्थ	
	परिशिष्ट (ग) : पत्र-पत्रिकाएं	

अपनी बात

अधिकांश लोगों की भाँति, मैं भी सर्वप्रथम नागार्जुन के कवि-व्यक्तित्व से परिचित हुआ था । तब, मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातक का छात्र था और उनकी कविताओं को पहली बार मजबूरी में पढ़ा था । उन दिनों उनकी तीन कविताएँ -'बादल को घिरते देखा है,' 'वह दंतुरित मुस्कान' और 'अकाल के बाद', पाठ्यक्रम में शामिल थीं, इसलिए उन्हें पढ़ना, एक तरह की मजबूरी थी । अजीब संयोग है ! कि आरंभ में जिस कवि को मजबूरी में पढ़ना पड़ा था, बाद के दिनों मेंउसी के प्रति गहरी दिलचस्पी पैदा हुई । इसका श्रेय निश्चित तौर से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रबुद्ध और मृदुभाषी प्राध्यापक डा० अवधेश प्रधान को है जिन्होंने नागार्जुन की कविताओं को सरल और सुरुचिपूर्ण ढंग से पढ़ाकर उनकेसाहित्य में गहरी रुचि पैदा कर दी थी ।

नागार्जुन-साहित्य के प्रति जो आरंभिक रुचि काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में पैदा हुई थी, उसे विकास और विस्तार मिला जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में । यहाँ आकर पहली बार मैंने नागार्जुन के उपन्यास-साहित्य को सुरुचिपूर्वक पढ़ा । इस क्रम में सर्वप्रथम 'रतिनाथ की चाची' को पढ़ा था । इस उपन्यास का इतना गहरा प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा कि मैं नागार्जुन के उपन्यासकार व्यक्तित्व का कायल हो गया । फिर, उन के एक-एक उपन्यासों को मैं क्रम से पढ़ गया ।

नागार्जुन के उपन्यासों को पढ़ते समय, मन में उठने वाले सवालों ने उन के ऊपर शोध करने के लिए मुझे प्रेरित किया । अध्ययन-क्रम में मुझे अक्सर लगता रहा कि नागार्जुन हिन्दी के एक महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं, जिनके उपन्यासों पर कोई विधिवत् चर्चा अभी तक नहीं हुई है । जो छिट-पुट

चर्चा हुई भी है, वह प्रामाणिकता और मूल्यवत्ता की दृष्टि से बिलकुल असंदिग्ध नहीं है । इस अर्थ में नागार्जुन के उपन्यासों और उनके उपन्यासकार व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना मेरे जैसेपाठक के लिए एक चुनौती थी । इस चुनौती को स्वीकार करने के कारण ही उनके उपन्यासों पर शोध करने में मैं स्वयं का मन रमा पाया हूं ।

नागार्जुन का उपन्यास-साहित्य बहुत व्यापक है । एम. फिल. शोध की सीमाओं को देखते हुए नागार्जुन के सभी उपन्यासों पर कार्य करना मुझे दुस्साध्य कार्य लगा । इसी वजह से मैंने अपना शोध-कार्य नागार्जुन के तीन प्रमुख उपन्यासों -'रतिनाथ की चाची,' 'बलचनमा' और 'वरुण के बेटे'- पर केन्द्रित किया है । ये तीनोंउपन्यास स्वतन्त्रता-पूर्व से लेकर बाद तक के लम्बे कालखण्ड को अपने भीतर समेटे हुए हैं ।

उपन्यास अपनी विधागत विशिष्टता के कारण युग की हलचलों से सर्वाधिक प्रभावित होता है । उपन्यास जिस कालखण्ड को अपना उपजीव्य बनाता है, उसके प्रमुख संदर्भों से प्रभावित होने के अलावा उन युगीन सन्दर्भों से भी गहरे रूप में प्रभावित होता है जिसमें वह रचा गया होता है । इस शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में इसकी विस्तार से चर्चा हुई है कि उपन्यास अपने युगबोध से किस रूप में प्रभावित होता है । इस संबंध में, हिन्दी उपन्यास की ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया और इस प्रक्रिया में चित्रित युगीन सन्दर्भों पर भी विस्तार से चर्चा हुई है ।

नागार्जुन के उपन्यास युग के जिस प्रवाह में रचे गये हैं, वे उसके प्रमुख संदर्भों को भी चित्रित करते गये हैं । उनके यहां गहरी युग चेतना मौजूद है । यह अनायास नहीं है कि उनके उपन्यासों में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का यथार्थ ब्यौरा प्रस्तुत हुआ है । शोध-प्रबन्ध के दूसरे अध्याय के प्रथम भाग में यह दिखाया गया है कि नागार्जुन के उपन्यास किस प्रकार अपने युगीन परिस्थितियों का गंभीर विमर्श प्रस्तुत करते हैं । उपन्यास-लेखन में विचारधारा के महत्व को नकारा नहीं जा सकता । विचारधारा कथ्य

के चुनाव पात्रों के चरित्रांकन और लेखन को सोद्देश्य बनाने में लेखक की मदद करती है । स्पष्टत: लेखक की विचारधारा उसके उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया को गहरे रूप में प्रभावित करती है । इसलिए उपन्यास के मर्म को समझने के लिए उपन्यासकार की विचारधारा को समझना जरूरी है । इसी कारण से इस अध्याय के दूसरे भाग में नागार्जुन की विचारधारा को समझने की कोशिश की गई । यहां उल्लेखनीय है कि इस अध्याय का पहला भाग अपेक्षाकृत अधिक बड़ा हो गया है जिसका प्रमुख कारण है कि नागार्जुन के उपन्यासों में जिन ऐतिहासिक परि-स्थितियों का चित्रण हुआ है, उनकी चर्चा कुछ विस्तार की अपेक्षा रखती है ।

नागार्जुन के उपन्यास संवेदना के स्तर पर जितने बेजोड़ हैं, शिल्प के स्तर पर उतने बेजोड़ नहीं। वस्तुत: नागार्जुन के औपन्यासिक कला में एक तरह से लेखकीय गंभीरता और तन्मयता का अभाव है । तीसरे अध्याय के दूसरे भाग में इसकी चर्चा हुई है कि नागार्जुन के औपन्यासिक शिल्प की सीमाएं क्या हैं । इस अध्याय के प्रथम भाग में नागार्जुन के औपन्यासिक कला, विशेषकर उनके उपन्यासों की कलात्मक बुनावट पर चर्चा हुई है । यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उपन्यास-लेखन के प्रति लापरवाही के बावजूद, लेखक ने कई स्थलों पर अपनी अद्भुत लेखकीय क्षमता का परिचय दिया है - खासकर उन स्थलों पर जहां उस ने गंभीर और तन्मय होकर कुछ रचा है ।

नागार्जुन हिन्दी के प्रमुख कवि ही नहीं, उपन्यासकार भी हैं । पर, विडंबना यह है कि हिन्दी में एक कवि के रूप में उन्हें जो ख्याति प्राप्त है, वह उपन्यासकार के रूप में नहीं । चौथे अध्याय के प्रथम भाग मेंइसकी चर्चा हुई है कि नागार्जुन के उपन्यासकार व्यक्तित्व को अपेक्षित ख्याति न प्राप्त होने का कारणक्या है । चर्चा के क्रम में यह दिखाया गया है कि उनके उपन्यासकार को अपेक्षित महत्व नहीं मिलने के लिए जितना हिन्दी का समीक्षा-जगत दोषी है, स्वयं लेखक भी उससे कम

दीर्घनी नहीं है । इस अध्याय के दूसरे भाग में उनके उपन्यासों के साथ उनके उपन्यासकार व्यक्तित्व का भी महत्व निरूपित किया गया है ।

नागार्जुन के उपन्यास-साहित्य पर कार्य करना निश्चय ही मेरे लिए एक कठिन कार्य रहा है । कुछ लोगों के अपेक्षित सहयोग के अभाव में यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हो पाता भी । कहना मुश्किल है । इस कठिन कार्य को आसान बनाने में जिन लोगों ने अपना सहयोग दिया, उनमें सर्वाधिक अग्रणी हैं, डा० ओमप्रकाश सिंह । संयोगवश ओम प्रकाश जी मेरे शोध-निर्देशक भी रहे हैं । वे भारतीय भाषा केन्द्र में अपनी विद्वता के लिए जितना जाने जाते हैं, उससे अधिक व्यवहार-कुशलता के लिए । वैसे तो, ओम प्रकाश जी मेरे शोध-निर्देशक रहे हैं, लेकिन व्यावहारिक जीवन में मैंने हमेशा उन्हें औपचारिक संबंधों से अलग, एक आत्मीय परिजन के रूप में पाया है । समय-समय पर उनके अमूल्य सुझावों और निर्देशों को प्राप्त करना मैं अपना अधिकार समझता रहा हूं, इसलिए उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करके मैं इस अधिकार के परिसीमन की धृष्टता नहीं कर सकता ।

नागार्जुन के संबंध में आरंभिक दृष्टि और समझ विकसित करने का श्रेय प्रो० मैनेजर पाण्डेय को है । उनके विद्वतापूर्ण व्याख्यानों से नागार्जुन के सम्बन्ध में जहां ज्ञान का विकास और विस्तार हुआ, वहीं उनके संबंध में व्याप्त कुछ गलतफहमियों का निवारण भी हुआ । इसके लिए पाण्डेय जी का मैं हार्दिक आभारी हूं ।

शोध की प्रक्रिया में कई स्वजनों के सहयोग को निश्चित रूप सेभुलाया नहीं जा सकता । बड़े भाई दिलीप जी उनमें अग्रणी हैं, जिनका अनुजवत् सहयोग और स्नेह प्राप्त करना मेरा अधिकार रहा है । फिर, उन्हें किस बात का धन्यवाद देना !

इस संदर्भ में कुछ और नाम याद आ रहे हैं, जिनसे वाद-विवाद

करना और किसी भी तरह का सहयोग प्राप्त करना मेरी दिनचर्या का अंग रहा है । चन्द्रशेखर सर, ज्ञानेन्द्र, सन्तोष और प्रत्यूष ऐसे ही नाम हैं । इन लोगों से इतना आत्मीय रिश्ता है कि इन्हें धन्यवाद देने की बात मैं सोच भी नहीं सकता ।

अन्त में, उन साथियों की भी याद आ रही है जो विभिन्न कारणों से आज मुझसे दूर हो गये हैं । समय के इस प्रवाह में कई तो मुझे जाने-अनजाने भूल भी गये होंगे । पर सच कहता हूं, बचपन से लेकर आज तक मेरे जितने भी दोस्त रहे हैं, मैं उनमें किसी को नहीं भूला हूं । ये सभी मेरी यादों में अब भी रचे बसे हुए हैं । इनमें से कुछ प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मेरे प्रेरणा स्रोत भी रहे हैं । इन्हें भी धन्यवाद देकर मैं आपस के आत्मीय रिश्ते को औपचारिक नहीं बनाना चाहता ।

भाटिया जी अवश्य, धन्यवाद के अधिकारी हैं, जिन्होंने टंकण सम्बन्धी कार्य को शुद्धता और शीघ्रता से सम्पन्न किया है ।

यह शोध-प्रबन्ध, मेरी मेहनत और स्वजनों के सहयोग का फल है - जैसा है, जिस रूप में है, आपके समक्ष प्रस्तुत है । अस्तु

जैनेन्द्र

43- ई, ब्रह्मपुत्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

अध्याय - 1 : उपन्यास और युगबोध

(क) आरंभिक उपन्यास और युगबोध

(ख) प्रेमचंद युगीन उपन्यास और युगबोध

(ग) प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास और युगबोध

(घ) स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास : परिवर्तित स्वरूप और युगबोध

कोई भी साहित्य एक खास युग और युगीन परिवेश की उपज होता है । इसलिए स्वाभाविक रूप से वह उन युगीन सन्दर्भों से भी गहरे रूप में प्रभावित होता है, जिस युग में वह रचा गया होता है अथवा जो युग उसके भीतर समाहित होता है । आशय यह है कि कोई भीसाहित्य उस युग के सन्दर्भों से पूरी तरह मुक्त होने का दावा नहीं कर सकता, जिसयुग के भीतर वह रचा जाता है, अथवा जो युग उसके भीतर समाहित होता है । संभव है, इसका भी अपवाद हो । और ढूंढने पर ऐसी साहित्यिक रचनाएं मिल जाएं,,जो युगीन सन्दर्भों के प्रभाव से मुक्त हो अथवा मुक्त होने का दावा करती हैं । लेकिन विचारणीय बात यह है कि ऐसी साहित्यिक रचनाएं संख्या में कितनी हैं ? यदि हैं भी तो प्रासंगिकता और मूल्यवत्ता की दृष्टि से इतनी दीन-हीन (जर्जर) अवस्था में हैं कि उन्हें उत्कृष्ट साहित्य की कोटि में नहीं गिना जा सकता है ।

जहां तक उपन्यास की बात है, तो वह साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में ज्यादा युग-सापेक्ष होता है । कभी, ज्यादा युग-सापेक्ष होने का श्रेय महाकाव्य को प्राप्त था, लेकिन पूंजीवाद के उदय ने जब उपन्यास को महाकाव्य का स्थानापन्न बना दिया, तब ज्यादा युग-सापेक्ष होने का श्रेय भी उपन्यास को प्राप्त हो गया । उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य कहा जाता है और इस कथन के पीछे यह तर्क दिया जाता है कि महाकाव्य मेंकिसी समाज और उसके परिवेश को समग्रता में चित्रित करने की जो अद्भुत क्षमता है, वह उपन्यास को छोड़कर साहित्य की किसी अन्य विधा में नहीं है । इसी अर्थ में वर्तमान समय में उपन्यास, साहित्य की अन्य विधाओं सेविशिष्ट है । इसके भीतर किसी युग-विशेष का समाज और परिवेश जिस व्यापकता और गहराई के साथ चित्रित हो सकता है, वह साहित्य की अन्य विधाओं के लिए असंभव है । उपन्यास में समय और समाज की गति को समग्रता में पकड़ने की जो अद्भुत क्षमता है, उसकी ओर

इशारा करते हुए राल्फ फाक्स ने लिखा है --'मनुष्य के जीवन को सर्वांगीण रूप में जितना उपन्यास चित्रित कर सकता है, उतना साहित्य का दूसरा अंग नहीं कर सकता ।'[1] अन्यत्र, उन्होंने लिखा है -'उपन्यास मात्र कथात्मक गद्य नहीं है, वह मानव के जीवन का गद्य है - ऐसी पहली कला है, जो सम्पूर्ण मानव को लेकर उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करती है ।'[2] आशय यह है कि समाज और परिवेश तथा इसके विशिष्ट सन्दर्भों की समग्र तस्वीर उपन्यास के भीतर समाहित होती है क्योंकि उपन्यास की प्रकृति इन्हीं चीजों के अंकन के लिए सर्वाधिक अनुकूल होती है ।

उपन्यास का ऐसा स्वभाव है कि वह अपने युग और युगीन परिवेश की अभिव्यक्ति से बच नहीं सकता । यह अनायास नहीं है कि उपन्यास अपने उदय काल से लेकर अब तक समाज और परिवेश के प्रमुख संदर्भों को रचनात्मक अभिव्यक्ति देने में सबसे अधिक सफल हुआ है । इस कथन की प्रामाणिकता की जांच उपन्यास के ऐतिहासिक विकास-क्रम के संदर्भ में की जा सकती है । उपन्यास का उदय सर्वप्रथम पश्चिम (यूरोप) में हुआ और इसके बारे में आश्चर्यचकित कर देने वाली बात यह है कि अपने उदय के आरंभिक काल से ही इसने तत्कालीन समाज और परिवेश के समग्र चित्रण मेंअद्भुत सफलता प्राप्त की है । कहीं-कहीं तो उपन्यास समाज और युगीन परिस्थितियों के चित्रण में इतिहास से भी अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक लगने लगते हैं । यह एक सच्चाई है कि 18 वीं सदी के इंग्लैण्ड के समाज और वहां की तत्कालीन परिस्थितियों की जैसी प्रामाणिक तस्वीर हेनरीफीलिंग के उपन्यासों में प्रस्तुत हुई है, वैसी प्रामाणिक तस्वीर इतिहास में भी नहीं मिलती है । फीलिंग के अलावा डिन्केस, स्काट आदि लेखकों केउपन्यास भी इंगलैण्ड के समाज और वहां के परिवेश का प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करते हैं । ऐसा नहीं है कि अपने समाज और परिवेश के चित्रण में मात्र अंग्रेज उपन्यासकार ही सफल रहे हैं । ऐसी सफलता बाल्ज़ाक और तालस्ताय जैसे महान उपन्यासकारों को भी प्राप्त

हुई है। इन उपन्यासकारों के यहां भी क्रमश: फ्रांसीसी और रूसी समाज और वहां की तत्कालीन परिस्थितियों की ऐसी प्रामाणिक तस्वीर प्रस्तुत की गई है कि उनके उपन्यासों को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे इनमें तत्कालीन समय का इतिहास लिख दिया गया हो । यहां एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक हैकि उपन्यास का उद्देश्य इतिहास का प्रस्तुतीकरण करना नहीं होता । उसके भीतर इतिहास समाहित अवश्य रहता है, लेकिन वह कई अर्थों में इतिहास से भिन्न भी होता है और विशिष्ट भी । इसलिए जब यह कहा जा रहा है कि उपन्यास के भीतर कोई समाज विशेष और उसका परिवेश समाहित होता है तो इसका आशय यहनहीं है कि उपन्यास के भीतर तत्कालीन समाज और परिवेश का इतिहास लिखा होता है । उपन्यास की इतिहासबद्ध व्याख्या करते हुए अक्सर कहा जाता है कि वह अपने वक्त का दर्पणहोता है । लेकिन ऐसा नहीं है । सच तो यह है कि अपने वक्त का दर्पण इतिहास भी होता है, उसमें भी एक खास युग और युग की स्थितियों और घटनाओं का अंकन होता है । इसलिए उपन्यास को वक्त कादर्पण कहनेसे उसके इतिहास होने का खतरा बढ़ जाता है । उपन्यास इतिहास से भिन्न है और कई मायने में उससे विशिष्ट भी । इस कथन को समझने के लिए दोनों के बीच के मूलभूत अंतर को समझना होगा । इतिहास अपने वक्त का दर्पण होता है, उपन्यास नहीं, क्योंकि दर्पण होने का अर्थ है जीवन और जगत के बाह्य और स्थूल पक्षों का उद्घाटन करना । और उपन्यास जीवन और जगत के बाह्य और स्थूल पक्षों के उद्घाटन तक सीमित नहीं रहता । वह इन सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए जीवन और जगत के आंतरिक एवं सूक्ष्म पक्षों के उद्घाटन तक अपना विस्तार करता है । इसलिए यह समझना आवश्यक है कि उपन्यास युग और समाज की उन सूक्ष्म और आंतरिक हलचलों को भी पकड़ने में सफल होता है जो इतिहास की पकड़ से बाहर हैं अथवा जिन्हें पकड़ पाने में इतिहास असफल रह जाता है । उपन्यास की इसी विशिष्टता की ओर संकेत करते हुए पंकज बिष्ट ने लिखा है;'उपन्यास अपने समय और समाज का प्रामाणिक चित्रण ही

नहीं, बल्कि मानव की आंतरिक दुनिया की पड़ताल का भी प्रभावशाली माध्यम है । वह कल्पना की उड़ान से लेकर दार्शनिक सवालों से भी टकराने की क्षमता रखता है ।"[3] इस कथन से इस बात की पुष्टि होती है कि उपन्यास के भीतर उन तत्वों की भी रचनात्मक अभिव्यक्ति होती है जिन का अंकन करने में इतिहास असमर्थ होता है । संभवत: इसी कारण को ध्यान में रखकर यह कहा जाता है कि किसी समय और समाज विशेष की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए उस समय और समाज से संबंधित उपन्यास को पढ़ना, इतिहास पढ़ने की तुलना में अधिक उपयोगी होता है । वह हमें इतिहास से अधिक प्रामाणिक रूप में सूक्ष्म और आंतरिक हलचलों की जानकारी दे सकता है ।

स्पष्ट है कि पश्चिमी देशों के उपन्यासों ने अपने युग और युगीन परिवेश की जो तस्वीर प्रस्तुत की है, वह अत्यन्त विश्वसनीय और प्रामाणिक है । सुखद बात यह है कि इस मामले में भारतीय उपन्यास, विशेषकर हिन्दी उपन्यास भी पीछे नहीं हैं । हिन्दी उपन्यास का जीवन-काल बहुत पुराना नहीं है । इसका इतिहास लगभग सौ साल पुराना है । पर, अपने अल्प जीवन काल में ही इसने जिस प्रखरता के साथ अपने समय और समाज के प्रमुख सन्दर्भों को चित्रित किया, वह निश्चित रूप से प्रशंसनीय है । इस संदर्भ में विशेष बात यह है कि पिछले सौ साल या पीछे की सभी प्रमुख राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक घटनाएं इन उपन्यासों के भीतर किसी-न-किसी रूप में मौजूद हैं । यह भी सच है कि इस समय के सभी प्रमुख सन्दर्भ, जैसे - अंग्रेजों द्वारा यहां सत्ता स्थापित करना और परंपरागत भारतीय समाज पर पड़ने वाला उसका प्रभाव, अंग्रेजों द्वारा भारतीयों का शोषण, दमन और इस दमन, शोषण के खिलाफ उभरता हुआ संघर्ष, कांग्रेस का उदय और गांधी जी का भारतीय राजनीति में सक्रिय प्रवेश, समाजवाद का उदय और किसानों मजदूरों का आन्दोलन,

स्वतंत्रता प्राप्ति और उसके बाद भारत-पाकिस्तान विभाजन, सांप्रदायिकता और स्वातंत्र्योत्तर भारत की परिवर्तित स्थितियां हिन्दी उपन्यासों में सफलतापूर्वक चित्रित हुई हैं ।

(क) आरंभिक उपन्यास और युग बोध

हिन्दी उपन्यास की विशेष उपलब्धि इस बात में है कि इसने अपने अस्तित्व के आरंभिक काल से ही युग और युगीन सन्दर्भों को सफलतापूर्वक चित्रित किया है। आम तौर से हिन्दी का पहला उपन्यास लाला श्रीनिवासदास का परीक्षा गुरु (1882) माना जाता है । जाहिर है कि इस समय हिन्दी उपन्यास 'शैशवावस्था' में था, इसलिए इससे किसी बड़ी उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती थी। इसके बावजूद लाला श्रीनिवासदास का यह उपन्यास जिस तरह से अपने युगीन सन्दर्भों को चित्रित करने में सफल हुआ है, वह अत्यंत सराहनीय है।इस समय के प्रमुख संदर्भों को ध्यान में रखकर उपन्यास को पढ़ने से इस बात का प्रमाण मिल जायेगा कि यह उपन्यास अपने युगीन सन्दर्भों की अभिव्यक्ति में किस हद तक सफल रहा है ? तत्कालीन युग नवजागरण का युग था जिसमें मुख्य रूप से सामाजिक और सांस्कृतिक सुधार की प्रक्रिया पर बल दिया जाता था । सुधारात्मक प्रक्रिया के साथ 'स्वत्व' अथवा आत्मबोध की भावना के प्रति गहरा लगाव भी नवजागरणकालीन प्रमुख प्रवृत्ति थी । इसलिए स्वाभाविकरूप से नवजागरण के मनीषियों के यहां अपनी भाषा, संस्कृति और राष्ट्र की अस्मिता के रेखांकन की चेतना भी दिखाई दे जाती थी । 'परीक्षा गुरु' में वही प्रवृत्तियां प्रमुख रूप से चित्रित हुईं जो नवजागरण कालीन प्रवृत्तियां थीं । इस उपन्यास में जहां अपनी पुरानी परंपराओं का विवेक सम्मत समर्थन किया गया है, वहीं अंग्रेजी फैशन तथा विलासिता की प्रवृत्ति से संभावित खतरे के प्रति आगाह किया गया है और इस प्रकार अंग्रेजों की नकल को निषिद्ध ठहराया गया है । इसके अलावा इसमें देशी भाषा के उत्थान और देश को उन्नत और आधुनिक

बनाने की बात भी कही गई है । इस उपन्यास में तत्कालीन युगीन संदर्भों की अभिव्यक्ति किस हद तक हुई है, इसकी जानकारी डा० बच्चन सिंह के इस कथन से प्राप्त की जा सकती है --'उस युग को अपनी समग्रता में समेटने का जो प्रयास लाला जी ने किया है, वह प्रशंसा के योग्य है ।' हिन्दी उपन्यासों में युगीन सन्दर्भों को समग्रता में चित्रित करने का जो सफल प्रयास 'परीक्षा गुरु' ने किया था, वह आगे भी अबाध गति से जारी रहा ।

'परीक्षा गुरु' के बाद हिन्दी में कई उपन्यास प्रकाशित हुए, लेकिन उन सब के बारे में चर्चा करना संभव नहीं है। महत्व की दृष्टि से भी ये उपन्यास बहुत साधारण किस्म के हैं । इसी समय प्रकाशित देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकान्ता' (1851) उपन्यास पाठकों और समीक्षकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने में अवश्य सफल रहा है । यह उपन्यास अपने समय का सर्वाधिक लोकप्रिय और चर्चित उपन्यास माना गया है, इसलिए जरूरी है कि इस पर भी चर्चा हो । इस उपन्यास पर चर्चा करने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि अब तक इसे अपने युगीन सन्दर्भों से विच्छिन्न, मात्र मनोरंजन पूर्ण उपन्यास मानने की परम्परा रही है और इससे यह शिकायत भी रही है कि जब देश महत्वपूर्ण राजनीतिक,सामाजिक और सांस्कृतिक उथल पुथल के दौर से गुजर रहा था, उस समय यह उपन्यास सारी हलचलों से बेखबर होकर तिलस्मी और ऐय्यारी की कथा को अपना उपजीव्य बना रहा था । सरसरी तौर से इस उपन्यास को पढ़ने पर ऐसा लगता भी है, लेकिन गहराई से छानबीन करने पर जो सच्चाई सामने आती है, वह इस धारणा का खण्डन करती है कि यह उपन्यास अपने युगीन सन्दर्भों से कटा हुआ था अथवा यह मात्र मनोरंजन के लिए लिखा गया था । यह सच है कि कोई भी महत्वपूर्ण कृति अपने युगीन सन्दर्भों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकती है, इसलिए 'चन्द्रकांता' उपन्यास भी अपने युगीन सन्दर्भों केप्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं है । बच्चन सिंह ने लिखा है -'इसमें अस्तोन्मुख सामंती वर्ग का खेल चित्रित किया गया है ।'[5] इसके अलावा

भी यह उपन्यास तत्कालीन सन्दर्भों को व्यक्त करता है - भले ही संकेत रूप में । संकेत रूप में तत्कालीन युगीन संदर्भों को लेखक ने क्यों व्यक्त किया है, इसे जानने के लिए युगीन परिवेश और उसमें रचनाकार की भूमिका की जानकारी आवश्यक है । देवकीनन्दन खत्री ने जब इस उपन्यास की रचना की, उस समय देश गुलाम था और लेखक का वर्तमान अंग्रेजी राज्य के अत्याचारों से भरा पड़ा था । अंग्रेजी राज्य के अत्याचारों और शोषण से मुक्ति की तलाश भारतीय जनता को भी थी और रचनाकारों को भी । जहां तक रचनाकारों की मुक्ति की तलाश का सवाल है, तो उन्होंने अंग्रेजी राज्य का विरोध रचना के स्तर पर दो रूपों में किया । पहला रूप था, रचना में अंग्रेजी राज्य के शोषण और अत्याचार का यथार्थवादी चित्रण करके अंग्रेजी राज्य का विरोध, [illegible] था अंग्रेजी राज्य के शोषण और अत्याचार का यथार्थवादी चित्रण करके अंग्रेजी राज्य का विरोध, जबकि दूसरा रूप था अंग्रेजी राज्य के शोषण और अत्याचार का प्रतीकात्मक रूप में चित्रण करके उसका विरोध करना । दूसरा रास्ता अधिक सुरक्षित और अपेक्षाकृत कम जोखिम से भरा था । असल में अंग्रेजी राज्य में अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर भी पाबन्दी थी, इसलिए लेखकों का दूसरे मार्ग पर चलना अधिक सुरक्षित था । देवकीनन्दन खत्री ने भी अपने उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' में अंग्रेजी राज्य के अत्याचारों का विरोध किया, लेकिन उनका विरोध प्रतीकात्मक रूपमें किया गया विरोध था ।उनके उपन्यासों में चित्रित तिलिस्म, अंग्रेजी साम्राज्य का तिलिस्म है और उसे तोड़ने वाले ऐय्यार - यहां की मध्य-वर्गीय जनता है, जिसके नेतृत्व में भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई आरंभ हुई थी । जाहिर है कि सामंतवाद और साम्राज्यवाद के पतन को चित्रित करने वाला उनका यह उपन्यास तत्कालीन राष्ट्रीय सन्दर्भों की अभिव्यक्ति करता है - भले ही अभिव्यक्ति का तरीका यथार्थवादी नहीं प्रतीकात्मक है । आरंभिक दौर में इन उपन्यासों में यथार्थ चित्रण का बहुत प्रौढ़ स्वरूप नहीं दिखाई देता, फिर भी इन उपन्यासों में गहन युग बोध चित्रित हुआ है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है ।

(ख) प्रेमचंद युगीन उपन्यास और युगबोध

हिन्दी उपन्यास साहित्य को विकसित और प्रौढ़ रूप प्रदान करने का श्रेय प्रेमचंद को जाता है । प्रेमचंद के आगमन से पहली बार हिन्दी उपन्यास का विकास और विस्तार अपने चरम बिन्दु तक पहुंच गया । उनके उपन्यासों की विशेषता है कि वे अपने समय के सभी प्रमुख सन्दर्भों और तत्कालीन परिवेश को समग्रता में चित्रित करते हैं । प्रेमचन्द का रचना काल भारतीय राजनीति में स्वाधीनता आन्दोलन और राष्ट्रीय चेतना के विकास का काल है । इसका प्रेमचंद के लेखन से क्या सम्बन्ध रहा है, इससम्बन्ध में डा० मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं -'प्रेमचन्द के 1907 से 1936 तक के कथा लेखन में भारत के स्वाधीनता आन्दोलन और राष्ट्रीय चेतना के विकास का इतिहास भी है और उसकी आलोचना भी ।[6] प्रेमचंद स्वाधीनता आन्दोलन और राष्ट्रीय चेतना के विकास से संबंधितसभी प्रमुख संदर्भों को चित्रित करने के अलावा उनके प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी रखते हैं । यह बात गांधीवाद के प्रति उनके दृष्टिकोण के संबंध में देखी जा सकती है । प्रेमचंद गांधीवाद से प्रभावित थे, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे गांधीवाद के सभी पहलुओं के अंध-समर्थक थे । वे गांधीवाद केइन्हीं पक्षों का समर्थन करते थे जो स्वाधीनता संघर्ष और आम जनता में राष्ट्रीय चेतना के विकास में सहायक थे और उनका विरोध करते थे जो जनआन्दोलनों को गति प्रदान करने में बाधक थे और साम्राज्यवाद के हितैषी थे । इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधीवाद के प्रति उनका रुख न अंध-विरोध का थाऔर न ही अंध-समर्थन का ।उनकेआरंभिक उपन्यासों में जहां गांधीवाद के समर्थन का स्वर अधिक तीव्र है, वहीं बादके उपन्यासों में गांधीवाद से उनका मोह भंग भी दिखाई देता है ।

स्वाधीनता आन्दोलन का एक पहलू साम्राज्यवाद विरोधी था तो दूसरा पहलू सामंतवाद विरोधी । प्रेमचंद के उपन्यासों में साम्राज्यवाद

और सामंतवाद के प्रति विद्रोह का स्वर सुनाई देता है और किसानों-मजदूरों, स्त्रियों और दलितों के प्रति सहानुभूति का स्वर । किसान जीवन से गहरा सम्बन्ध होने के कारण उनके यहां किसान जीवन व्यापक रूप में चित्रित हुआ है । किसान जीवन का जो चित्रण उन्होंने किया है वह तत्कालीन युग से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है ।'प्रेमाश्रम, 'कर्मभूमि' और 'गोदान' जैसे उपन्यासों में उन्होंने तत्कालीन किसानों के शोषण, उत्पीड़न और उनकी गरीबी जैसी स्थितियों का अंकन तो किया ही है, साथ में यह दिखाने का प्रयास भी किया है कि किसानों की इस स्थिति के लिए कौन-कौन से तत्व जिम्मेदार हैं । उन्होंने यह दिखाने का भी प्रयत्न किया है कि किस तरह एक साधारण किसान अंग्रेजी प्रशासन, कोर्ट कचहरी, जमींदार, साहूकार और पंडितों पुरोहितों के तंत्र में फंसकर तिल-तिलकर टूटता है । टैक्स का भार और बेदखली की समस्या उस समय किस तरह किसान को 'मजूर' बनने के लिए बाध्य कर रही थी, इसे भी प्रेमचंद ने दिखाया है। 'गोदान' उपन्यास के 'होरी' के माध्यम से प्रेमचन्द नेयह दिखाया है कि किस तरह चौतरफा शोषण की चक्की में पिसकर एकिसान 'मजूर' की स्थिति में पहुंच जाता है । इन उपन्यासों में प्रेमचंद ने तत्कालीन समय में उभर रहे किसान आन्दोलन को प्रतिध्वनित किया है, हालांकि किसान आन्दोलन का विद्रोही और तीखा स्वर उनके उपन्यासों में नहीं दिखाई देता है । फिर भी कई आलोचकों ने 'प्रेमाश्रम' और 'कर्म भूमि' जैसे उपन्यासों मेंकिसान आन्दोलन की प्रतिध्वनि लक्षित की है । बच्चन सिंह ने 'प्रेमाश्रम' के कुछ उद्धरणों, जैसे -'यहां कोई ट्रेवल नहीं है । जब कौड़ी-कौड़ी लगान चुकाते हैं तो धौंस क्यों सहें ।' - या 'एक एक के सिर तोड़ के रख दूंगा ।'- को लक्ष्य करते हुए कहा है कि 'सन् 1921 के किसान आन्दोलन की प्रतिध्वनियों को उन उद्धरणों में सुना जा सकता है ।'[7]

'रंगभूमि' और 'कर्म भूमि' उपन्यासों में स्वाधीनता संघर्ष के बहु-आयामी राष्ट्रीय सन्दर्भों का चित्रण हुआ है । रंगभूमि में गांधीवादी

मूल्यों का समर्थन किया गया है । गांधी जी औद्योगीकरण के विरोधी थे, इस उपन्यास में भी पूंजीवाद और औद्योगीकरण का विरोध किया गया है । इस उपन्यास में मजदूरों की समस्या को उठाया गया है । साथ में मजदूरों और पूंजीपतियों के बीच उभरने वाले तनाव को भी चित्रित किया गया है । राजा महेन्द्र और जान सेवक के आपसी गठजोड़ के जरिए इसमें यह दिखाने का प्रयास किया गया है, किस तरह तत्कालीन समय में पूंजीवाद और सामंतवाद का आपस में गठ जोड़ हो रहा था । यही बात गोदान में भी दिखाई गई है । रंगभूमि में तत्कालीन समय के व्यापक परिवेश को अभिव्यक्ति दी गई है जिसके सम्बन्ध में डा० राम दरश मिश्र ने लिखा है -'रंगभूमि राष्ट्रीय उपन्यास है । इसमें एक विराट राष्ट्रीय मंच पर उसकी बहुआयामी परिस्थितियों और चेतना को उपस्थित किया गया है ।राष्ट्रीय स्तरपर तत्कालीन भारत की अनेक राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याएं थीं, रंगभूमि में इन सारी समस्याओं के संश्लिष्ट रूप को प्रस्तुत किया गया है ।'[8] यही नहीं, इस समय के मध्य वर्ग, उसके चरित्र और राष्ट्रीय आन्दोलन में उसकी भागीदारी को भी इन उपन्यासों में दिखाया गया है । तत्कालीन समय में चलाए जा रहे अछूतोद्धार तथा अन्य सामाजिक आन्दोलनों की झलक भी प्रेमचंद के इन उपन्यासों में मिल जाती है ।

तत्कालीन युग का एक महत्वपूर्ण सामाजिक सन्दर्भ स्त्रियों की स्थिति से जुड़ा है । सुखद बात यह है कि प्रेमचंद के उपन्यासों में स्त्री जीवन के विविध आयामों और उनकी समस्याओं को रचनात्मक अभिव्यक्ति दी गई है । उनके उपन्यासों में नारीवादी चेतना का स्वर बहुत तीव्रता के साथ नहीं उभरा है । फिर भी उनके यहां स्त्री समस्याओं को गंभीरता-पूर्वक उठाया गया है । स्त्री जीवन और उनकी समस्याओं के प्रति लगाव का परिणाम और प्रमाण यह है कि उन्होंने हिन्दी का अपना पहला उपन्यास 'सेवा सदन' स्त्री समस्या को आधार बनाकर लिखा है । इस उपन्यास में स्त्री जीवन की प्रमुख समस्याओं - दहेज प्रथा, अनमेल विवाह,

वेश्यावृत्ति आदि को गंभीरतापूर्वक उठाया गया है । इस उपन्यास की नायिका सुमन स्त्री जीवन की जिन त्रासद स्थितियों से गुजरती है, उससे भारतीय स्त्री जीवन की विडम्बना का बोध होता है । वह दहेज के अभावमें अधेड़ दुहाजू से ब्याही जाती है और प्रतिकूल परिस्थितियों में पड़ कर अन्ततः वेश्या बन जाती है । स्त्री जीवन की विभिन्न समस्याओं का यथार्थ अंकन करने में प्रेमचंद सफल हैं लेकिन जब वे उनकी समस्याओं का गांधीवादी या आर्य समाजी समाधान प्रस्तुत करते हैं, तब उस स्थिति में उनकी रचनाशीलता क्षतिग्रस्त होती है और वे महज आदर्शवादी रचनाकार बनकर रह जाते हैं । `सेवा सदन` की कमजोरी भी स्त्री समस्या के समाधान, यानी - सदन की स्थापना में दिखाई देती है । इस उपन्यास की सफलता जहां समस्याओं को उठाने में है, वहीं उसकी कमजोरी समाधान-प्रस्तुति में है । `सेवा सदन` के अलावा `निर्मला` और अन्य दूसरे उपन्यासों में स्त्री जीवन के विविध आयामों और उनकी समस्याओं को प्रेमचन्द ने गहराई से उठाया है । इसलिए प्रेमचंद के महत्व का रेखांकन इस से भी होता है कि उन्होंने अपने समय के सभी प्रमुख सन्दर्भों का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है ।

प्रेमचंद के समकालीन उपन्यासकारों के यहां भी युग और युगीन सन्दर्भों को समग्रता में चित्रित करने की प्रवृत्ति मिलती है। इस काल के अनेक उपन्यासकारों ने प्रेमचंद की सामाजिक यथार्थवादी परंपरा को आधार बनाते हुए उन्हीं की तर्ज पर उपन्यास लिखे । प्रेमचंद की शैली मेंउपन्यास लिखने वालों में इस समय सर्वाधिक चर्चित नाम विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक का है । कथा-लेखन के क्षेत्र में विश्वम्भरनाथ शर्मा प्रेमचंद के काफी नज़दीक पड़ते हैं किन्तु उनके यहां उस गहराई और अनुभव की तीक्ष्णता का अभाव है जो प्रेमचंद के लेखन में विद्यमान है ।

प्रेमचंद-युग के लेखकों में जयशंकर प्रसाद कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं । उपन्यास के क्षेत्र में वह कई मायने में प्रेमचंद से भिन्न पड़तेहैं । फिर भी उनके उपन्यासों का वही यथार्थवादी स्वर है जिसका आरंभिक स्वरूप प्रेमचंद के यहां मिलता है । यथार्थ जीवन का अंकन उनके उपन्यास लेखन का प्रमुख उद्देश्य है, क्योंकि स्वयं प्रसाद का माननाहै --

> 'वर्तमान सुख-दुख में पड़कर हर्ष, विषाद मानता जो
> उपन्यास-लेखक है वह, परिणाम-स्थिति ही सच्ची है ।'[2]

अर्थात् 'वर्तमान सुख दुख में पड़कर' उसे समझने की कोशिश ही उपन्यास लेखन का आधार है । प्रसाद मूलत: कवि और नाटककार हैं, इसलिए स्वाभाविक रूप से उनके उपन्यासों को वह महत्व नहीं मिला है, जो उन की कविताओं में और नाटकों को मिलता है । उन्होंने तीन उपन्यास लिखे हैं - दो पूर्ण और एक अपूर्ण । इन उपन्यासों के विषय में खास बात यह है कि तत्कालीन समय के सन्दर्भों को चित्रित करने में इन्हें काफी सफलता मिली है । 'कंकाल' प्रसाद का यथार्थवादी उपन्यास है जिसमें तत्कालीन समाज की विषमताओं और समाज में व्याप्त धार्मिक पाखण्डों की पोल खोली गयी है । इसमें धार्मिक संस्थाओं पर गहरा व्यंग्य किया है, साथ ही साथ यह दिखाने का प्रयास भी किया गया है कि समाज में व्याप्त विसंगतियों के लिए इन धार्मिक संस्थाओं का कुचक्र और पाखण्ड किसहद तक जिम्मेदार है । प्रसाद का दूसरा यथार्थवादी उपन्यास 'तितली' है । इस उपन्यास पर नवजागरणकालीन प्रवृत्तियों का प्रभाव देखा जा सकता है । इसमेंव्यक्त भारतीय संस्कृति के प्रति लगाव इसी प्रवृत्ति का प्रतिफलन है । प्रसाद ने तितली के माध्यम से भारतीय नारी और उसकी जीवन-दृष्टि को पाश्चात्य स्त्रियों की तुलना में श्रेष्ठ ठहराया है । इसमें चित्रित अन्यसंदर्भ - जैसे ढहती हुई सामंती व्यवस्था, ग्राम सुधार आदि भी तत्कालीन समय के यथार्थ सन्दर्भ हैं ।

प्रेमचंद युग के अधिकांश उपन्यासकारों ने सामाजिक सन्दर्भों पर

आधारित उपन्यास लिखे । लेकिन इस समय ऐतिहासिक सामाजिक सन्दर्भों पर आधारित उपन्यास लिखने वालों का भी एक वर्ग उभर कर सामने आया । ऐसे उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा और चतुरसेन शास्त्री का नाम प्रमुख है । इनके उपन्यासों की विशेषता यह है कि ऐतिहासिक हो कर भी ये उपन्यास अपने वर्तमान युगीन सन्दर्भों से पूरी तरह विच्छिन्न नहीं हैं । इनमें इतिहास के उस काल खण्ड के सन्दर्भ तो मौजूद हैं ही, जो कालखण्ड उपन्यासों का उपजीव्य है, पर इसके अलावा इन उपन्यासों पर उस युग के प्रमुख सन्दर्भों का भी प्रभाव है - कहीं तीखे रूप तो कहीं हलके रूपमें - जिस युग में इनकी रचना हुई है । तात्पर्य यह है कि ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्बन्ध में यह अनुमान लगाना गलत होगा कि अपने वर्तमान सन्दर्भों से इनका कुछ भी लेना देना नहीं है, बल्कि आश्चर्यजनक लग सकता है कि कई बार ये ऐतिहासिक उपन्यास अपने ठेठ वर्तमान सन्दर्भों की उपज लाते हैं । ये ऐतिहासिक उपन्यास अपने वर्तमान से क्यों और किस तरह से जुड़े हैं, इसकी चर्चा आगे होगी । फिलहाल इस वास्तविकता की जानकारी ही पर्याप्त है कि इन उपन्यासों का जितना गहरा सम्बन्ध अपने रचनाकाल के संदर्भों से है, उतना ही उनके वर्तमान के संदर्भों से ।
सामाजिक सन्दर्भों पर आधारित उपन्यासों की चर्चा ऊपर हो चुकी है । ऐसे उपन्यासों में उल्लेखनीय हैं, बेचन शर्मा उग्र के उपन्यास । उग्र ने तत्कालीन सामाजिक सन्दर्भों, खास कर सामाजिक कुरीतियों आदि पर उपन्यास लिखे हैं । `बुधुवा की बेटी`, `दिल्ली का दलाल` आदि उपन्यासों में लेखक ने `छुआछूत` और स्त्री-जीवन की समस्याओं को प्रमुख रूप से उभारा है । इस युग के अन्य महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं - चण्डीप्रसाद हृदयेश, सियारामशरण गुप्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, राधिकारमण सिंह और प्रताप नारायण श्रीवास्तव । इनके बारे में सुखद बात यह है कि इन्होंने भी अपने उपन्यासों में तत्कालीन सन्दर्भों को किसी-न-किसी रूप में व्यक्त किया है ।

(ग) प्रेमचंदोत्तर उपन्यास और युग बोध

प्रेमचंद युग के बाद उपन्यास लेखन मुख्य रूप से दो परंपराओं में बंट जाता है । पहली, मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखन की परम्परा और दूसरी सामाजिक यथार्थवादी लेखन की परंपरा ।

(I) मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में चित्रित युग

मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखकों का सामाजिक सन्दर्भों से वैसा गहरा सरोकार नहीं दिखाई देता है, जैसा कि सामाजिक यथार्थवाद के उपन्यासकारों के यहां दिखाई देता है । परन्तु उससे यह अर्थ निकालना कि इन उपन्यासकारों का अपने समाज और युग के संदर्भों से कुछ लेना-देना नहीं है, उनके साथ अन्याय करना होगा । सच तो यह है कि इन का ध्यान मुख्य रूप से 'व्यक्ति-जीवन' और उसकी आन्तरिक दुनिया की हलचलों पर केन्द्रित रहा है परन्तु बाह्य जीवन जगत की हलचलों से भी ये पूरी तरह से मुक्त नहीं है । यह अवश्य है कि इनके यहां बाह्य जीवन-जगत की घटनाएं अथवा सन्दर्भ अत्यंत क्षीण रूप में चित्रित हैं और प्रमुख रूप से व्यक्ति जीवन का सत्य और उसकी विभिन्न मनःस्थितियां ही चित्रित हुई हैं। फिर भी, ये अपना दामन सामाजिक जीवन और युगीन सन्दर्भों से नहीं बचा पाये हैं । इसका कारण यह है कि उपन्यास स्वभावसे ही समाज-सापेक्ष होता है, इसलिए सामाजिक सन्दर्भों से इसका बच पाना किसी भी तरह संभव नहीं है । इस कथन की प्रामाणिकता की जांच इस परम्परा के उपन्यासों में की जा सकती है । व्यक्ति के अंतःमन पर आधारित उपन्यास लिखने वालों में पहला नाम आता है जैनेन्द्र का । उनके दो प्रमुख उपन्यासों -'त्यागपत्र' और 'सुनीता' का मुख्य सन्दर्भ मनोवैज्ञानिक है, लेकिन उसमें बहुत दूर तक सामाजिक सन्दर्भों की अभिव्यक्ति हुई है, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता है । 'त्याग पत्र' - जो जैनेन्द्र का विशेष महत्वपूर्ण उपन्यास है - के सम्बन्ध में एक आलोचक ने लिखा है कि इसमें 'लेखक कहीं सीधे

ढंग से कहीं व्यंग्यात्मक ढंग से सामाजिक जीवन की विसंगतियों को उद्घाटित करता चलता है ।[10] इस उपन्यास की नायिका 'मृणाल' की व्यक्तिगत पीड़ा सामाजिक विसंगतियों की देन है और लेखक नायिका की कथा के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों का उद्घाटन करता है । यह उपन्यास 'समाज की वर्तमान मानवीय व्यवस्था के दबाव में पिसते हुए एक व्यक्ति की (विशेषतया नारी की) करुण परिणति का बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित करता है ।'[11] जाहिर है कि इस उपन्यास में स्त्री की विसंगतियां आधुनिक सन्दर्भों सेगहरे रूप में जुड़ी हुई हैं ।

जैनेन्द्र के अलावा इस परम्परा के अन्य महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं - इलाचन्द जोशी और अज्ञेय । जहां तक इलाचन्द जोशी की बात है तो वे अपने चरित्रों का निर्माण मनोविज्ञान की किताबों और मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं पर अधिक करते हैं, सामाजिक अनुभव के आधार पर कम । उनका लेखन भी मुख्य रूप से व्यक्ति-मन की सच्चाईयों के उद्घाटन पर केन्द्रित है । लेकिन मार्क्सवाद से लगाव होने के कारण उनके पात्रों का सामाजिक जीवन से भी गहरा सम्बन्ध होता है । उदाहरण के लिए, 'जहाज का पंछी' उपन्यास देख सकते हैं । इस उपन्यास का नायक विचारों से जनवादी है और उसके जीवन का महत्वपूर्ण समय जनवादी मूल्यों की रक्षा के लिए संघर्ष करते हुए व्यतीत होता है । इस संघर्ष में वह कदम-कदम पर गिरता है, टूटता भी है, लेकिन कहीं भी अवसरवादी अथवा मूल्यहीन समझौता नहीं करता ।

व्यक्ति केन्द्रित उपन्यास लेखन की परंपरा को प्रौढ़ता प्रदान करने का श्रेय अज्ञेय को जाता है । अज्ञेय के उपन्यासों की विशेषता यह है कि इनमें मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का उतना उपयोग नहीं किया गया जितना यथार्थ जीवन के अनुभवों का उपयोग । उनके चरित्र भी मनोविज्ञान की पोथियों के आधार पर नहीं गढ़े गये हैं, बल्कि वे जीवन और जगत की

की व्यापक अनुभूतियों के आधार पर रचे गये हैं । यही कारण है कि उनके पात्र हाड़ मांस के पुतले नहीं, हमारे बीच के जीते-जागते मनुष्य लगते हैं । अज्ञेय के उपन्यासों की विशेषता यह भी है कि उनसे स्वयं लेखक गहरे स्तर पर जुड़ा हुआ है । लेखक का महत्वपूर्ण उपन्यास है - 'शेखर : एक जीवनी' जिसमें उसके गतिशील व्यक्तित्व की छवि देखी जा सकती है । इस उपन्यास का महत्व इसलिए भी है कि यह तत्कालीन सन्दर्भों, जैसे - राष्ट्रीय आन्दोलन, जाति-पांति तथा स्त्री-पीड़ा आदि को संवेदना के साथ चित्रित करता है ।

(ii) सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासों में चित्रित युग

प्रेमचंद युग के बाद जो दूसरी परंपरा विकसित हुई थी, वह सामाजिक यथार्थवाद की परंपरा थी । यह परंपरा भी मनोविज्ञान केन्द्रित परंपरा के समानांतर चलती रही । बाद के दिनों में तो इसी परंपरा का ज्यादा प्रचार प्रसार हुआ । मनोविज्ञान केन्द्रित उपन्यासकारों की परंपरा बाद के दिनों में क्षीण होती गई और इसका एक प्रमुख कारण यह था कि समाज-केन्द्रित उपन्यासकारों का जैसा गहरा सम्बन्ध जीवन और जगत तथा उसके बाह्य स्वरूप से था, वैसा गहरा सम्बन्ध व्यक्ति-केन्द्रित उपन्यास-कारों का नहीं था । इन उपन्यासकारों का लक्ष्य सामाजिक जीवन के यथार्थ का समग्र अंकन था । लेकिन इससे ऐसी गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि इनके यहां 'व्यक्ति' की महत्ता को पूरी तरह से नकार दिया जाता है । उनके यहां समाज को अधिक महत्व अवश्य मिलता है, लेकिन व्यक्ति की निजी सत्ता की भी उपेक्षा नहीं की जाती है । वैसे भी, समाज और व्यक्ति का रिश्ता अत्यंत जटिल परन्तु अन्योन्याश्रित होता है । तात्पर्य यह है कि यदि समाज की अवधारणा व्यक्तियों के समूह से निर्मित होती है तो व्यक्ति के अस्तित्व का निर्धारण भी समाज के भीतर होता है। इसलिए दोनों के बीच का रिश्ता बूंद और समुद्र का रिश्ता है, जो एक दूसरे से अलग होकर नहीं रह सकते । इन दोनों का अस्तित्व अलग-अलग

इकाई के रूप में होता है, लेकिन ये एक दूसरे पर आश्रित भी होते हैं । जाहिर है समाज को अधिक महत्व देकर भी व्यक्ति के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता । सामाजिक यथार्थ के उपन्यासकारों के यहां समाज के यथार्थ का चित्रण विस्तारपूर्वक हुआ है । इसलिए स्वाभाविक रूप से इनके यहां युगीन सन्दर्भों की व्यापक अभिव्यक्ति हुई है । यहां दुहराना आवश्यक है कि इनके उपन्यासों में 'व्यक्ति' सत्य को भी समुचित स्थान दिया गया है, इसलिए व्यक्ति जीवन के संदर्भ भी यहां उपस्थित हैं ।

उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करने वाले लेखकों की दो कोटियां हैं । पहली कोटि उन लेखकों की है जो किसी दार्शनिक अथवा राजनीतिक विचारधारा से निर्दिष्ट हुए बिना सामाजिक जीवन के विभिन्न संदर्भों का चित्रण करते हैं । इनकी रचनाशीलता जीवन और जगत के व्यापक अनुभवों के बीच विकसित हुई है । इनकी दृष्टि भी जीवन और जगत के घात प्रतिघात से विकसित हुई है, न कि किसी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता से । इस कोटि में कुछ ऐसे भी लेखक हैं जो विचारधारा से प्रतिबद्ध होते हुए भी अनुभव की प्रामाणिकता को अधिक महत्व देते हैं । इन उपन्यासकारों की विशेषता यह है कि इनके यहां जो यथार्थ चित्रित हुआ है, वह हमारे युग और समाज की वास्तविकता है । इन लेखकों ने उनबातों को ही रचनात्मक अभिव्यक्ति दी है जिन्हें उन्होंने आस-पास के समाज में देखा है अथवा जिन्हें उन्होंने स्वयं भोगा है । इनमें विचारधारा के प्रति अतिरिक्त आग्रह न होने के कारण सच को धुंधला करने और लेखन को प्रचारवादी बनाने वाली प्रवृत्ति भी नहीं मिलती है।

सामाजिक यथार्थ पर लिखने वालों की दूसरी कोटि उनकी है जो मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध हैं । इनके लेखन का एक खास उद्देश्य है । उनके यहां आर्थिक पहलुओं के विश्लेषण की और समाज को वर्गीय दृष्टि से चित्रित करने की प्रवृत्ति मिलती है । वर्गीय दृष्टि से

समाज का चित्रण करने के कारण इन लेखकों ने समाज में शोषक और शोषित का विभेद किया है और इनके बीच चलने वाले निरंतर संघर्ष को भी चित्रित किया है । इस क्रम में लेखकों की सहानुभूति शोषितों के प्रति रही है । इनके यहां सामाजिक विसंगतियों और उनसे जुड़े हुए तमाम सवालों को तत्कालीन आर्थिक और राजनीतिक सन्दर्भों के साथ चित्रित किया गया है । युग के सन्दर्भों के चित्रण का जहां तक सवाल है, इस सन्दर्भ में उनकी भूमिका निश्चित तौर से प्रशंसनीय है । लेकिन जब इन उपन्यासकारों पर विचारधारात्मक आग्रह हावी हो जाता है, तबउस स्थिति में उनका लेखन प्रचार-बहुलता और सरलीकरण का शिकार बन जाता है । विचारधारा के प्रति अधिक आग्रहशील होने का एक खतरा यह भी होता है कि लेखक वास्तविक सन्दर्भों को चित्रित करने केबजाए लेखन में अवास्तविक सन्दर्भों को प्रश्रय देने लगता है । यशपाल, भैरव प्रसाद गुप्त, राहुल सांकृत्यायन और रांगेय राघव के उपन्यासों में एक हद तक यही प्रवृत्ति विद्यमान है और इसका कारण इन लेखकों का विचारधारा के प्रति अधिक आग्रही होना है ।

सामाजिक यथार्थवाद के उपन्यासकारों में यशपाल प्रमुख हैं । वे मार्क्सवादी विचारधारा से सम्पन्न कथाकार हैं । उनकी इस विचारधारा का प्रभाव उनके संपूर्ण कथा-साहित्य में देखा जा सकता है ।उनके यहां युग के सभी प्रमुख सन्दर्भ समग्रता में चित्रित हुए हैं, इसका प्रमाण उन के पहले उपन्यास `दादा कामरेड` और सर्वाधिक चर्चित उपन्यास `झूठा सच` में देखा जा सकता है । `दादा कामरेड` तत्कालीन समय के राजनीतिक सन्दर्भ पर लिखा गया उपन्यास है ।स्वाधीनता आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर लिखित इस उपन्यास में दादा कामरेड के रूप स्वयं लेखक ने तत्कालीन परिस्थितियों में मार्क्सवादी विचारधारा की उपयोगिता का रेखांकन किया है ।यहां कहना अनुचित न होगा कि इस पूरे उपन्यास में लेखक की विचारधारा उसकी रचनाशीलता पर हावी रही है । `झूठा सच`

यशपाल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास है और इसकी विशेषता यह है कि यह अपने युग के सभी प्रमुख सन्दर्भों को समग्रता में चित्रित करने में सफल रहा है । यह उपन्यास प्रमुख रूप से विभाजन की घटना और उससे जुड़े सवालों जैसे - सांप्रदायिकता, शरणार्थी समस्या आदि को उठाता है । लेकिन उल्लेखनीय है कि लेखक की दृष्टि सामाजिक घटनाओं पर भी यही रही है । परिणामस्वरूप उसके यहां समसामयिक घटनाओं के संश्लिष्ट चित्र भी मिल जाते हैं । प्रसंगवश, यहां भीष्म साहनी के `तमस` उपन्यास का उल्लेख किया जा सकता है । यह उपन्यास भी स्वातंत्र्योत्तर भारत की सर्वाधिक त्रासद घटना - विभाजन को आधार बनाकर लिखा गया है । लेखक ने इसमें विभाजन के कारणों और उससे उत्पन्न स्थितियों की विस्तारपूर्वक चर्चा की है और साथ ही साम्प्रदायिकता के विकास में अंग्रेजों की भूमिका का सही आकलन भी प्रस्तुत किया है ।

स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास लेखन का संरचनात्मक परिदृश्य कई अर्थों में पहले से भिन्न है । बावजूद इसके, वह प्रेमचंद की सामाजिक यथार्थवाद की परंपरा सेभी गहरे स्तर पर जुड़ा हुआ है । स्वातंत्र्योत्तर भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिदृश्य में परिवर्तन के कारण सामाजिक यथार्थवाद का स्वरूप भी बदला है । इसके परिणाम-स्वरूप उपन्यास के क्षेत्र मेंशिल्प और संवेदना - दोनों ही नये यथार्थ बोध से प्रभावित हुए हैं । यह यथार्थ बोध के परिवर्तन का ही फल है कि इन उपन्यासों में मध्यवर्गीय जीवन और उसकेसंश्लिष्ट अनुभवों तथा संश्लिष्ट स्थितियों के चित्रण को अधिक बल मिला है ।

स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर एक महत्वपूर्ण नाम है। उनका प्रसिद्ध उपन्यास है - `बूंद और समुद्र` । इस उपन्यास में लखनऊ के एक मुहल्ले को केन्द्र बनाकर इसके माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर भारत के बदलते हुए स्वरूप की तस्वीर प्रस्तुत की

TH-8242

गई है । इस उपन्यास में तत्कालीन सच जिस रूप में व्यक्त हुआ है, उसके सम्बन्ध में डा० रामदरश मिश्र लिखते हैं - इसने आज के मनुष्य के भीतर, भावगत, विचारगत परिवर्तनों , संक्रांत मूल्यों और सम्बन्धों राजनीतिक दलों की विभीषिकाओं से त्रस्त होती हुई मानवता को पहचाना है । लेखक ने समाज और व्यक्ति दोनों की विसंगतियों को तीव्र यथार्थवादी दृष्टि से देखा है, उसने समाज के विविध चरित्रों और उनके संबंधों को पहचाना है ।[12] कहना न होगा कि इसमें स्वातंत्र्योत्तर भारत के विभिन्न सन्दर्भों का विस्तृत - ब्यौरा प्रस्तुत हुआ है ।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में अपने युगीन सवालों से टकरानेवाले, युगीन संदर्भों को चित्रित करने वाले, उपन्यासों की एक लम्बी फेहरिस्त है जिनकी अलग-अलग चर्चा करना - शोध-प्रबन्ध की सीमाओं को देखते हुए असंभव कार्य है । प्रसंगवश, कुछ महत्वपूर्ण उपन्यासों का उल्लेख किया जा सकता है जो अपने युग और परिवेश से जुड़े हुए हैं और युग के प्रमुख सन्दर्भों को व्यक्त करते हैं । `भूले बिसरे चित्र`, `मुरदा घर`, `वह पथ बन्धु था`, `एक टुकड़ा इतिहास`, `उखड़े हुए लोग`, `ऐसे ही उपन्यास हैं । इनमें से अधिकांश उपन्यासों में स्वातन्त्र्योत्तर परिस्थितियों की उपज - मध्यवर्गीय जीवन की कुंठा, उसकी टूटन और उसका अकेलापन को चित्रित किया गया है ।

0,152,3,N11:9 152N9 DISS

सामाजिक यथार्थवाद के उपन्यास कारों का एक बड़ा वर्ग ग्रामीण जीवन से संबंधित संदर्भों को अपने उपन्यासों में चित्रित करता है । प्रेमचंद भी ग्रामीण जीवन के कथाकार थे, इसलिए स्वाभाविक रूप से इस वर्ग के अधिकांश उपन्यासकार स्वयं को प्रेमचंद से जोड़ते हैं । पर यहां फर्क करना आवश्यक है कि इनके यहां चित्रित गांव और उसके संदर्भ, प्रेमचंद के गांवऔर उसके सन्दर्भ से भिन्न हैं । यह भिन्नता एक युग और उसके

Jawaharlal Nehru University Library

सन्दर्भों में आये परिवर्तन की प्रक्रिया से उत्पन्न हुई है । इसलिए इन उपन्यासों में जो संवेदना के स्तरपर परिवर्तन लक्षित होता है, वह युग और युगीन संदर्भों के परिवर्तन के कारण हैं ।

ग्राम कथाकारों की तीन कोटियां दिखाई देती हैं । पहली कोटि उनकी है जो गांव की किसी ख़ास भौगोलिक सीमा में नहीं बंधे होते हैं अर्थात् उनका गांव, सामान्य गांव होता है, विशेष नहीं । आशय यहहै कि जो गांव उनकी कथानक का केन्द्र होता है, उसकी सत्ता सार्वभौमिक होती है, उसमें उत्तर से लेकर दक्षिण भारत तक के सभी गांवों की छवि देखी जा सकती है । उनका उद्देश्य भी, अन्य दो कोटि के कथाकारों से भिन्न होता है । उनका उद्देश्य ग्राम जीवन की समस्याओं, विसंगतियों और विडम्बनाओं को अपनेउपन्यासों में चित्रित करना होता है । इसके विपरीत दूसरी कोटि के ग्राम कथाकारों - जिन्हें आंचलिक कथाकार कहा जाता है, का उद्देश्य, किसी अंचल विशेष को बतौर नायक प्रस्तुत करना होता है। ऐसे कथाकार ग्रामीण जीवन (अंचल विशेष) की परम्पराओं, वहां की संस्कृति, प्रकृति, कलाऔर लोक विश्वासों के चित्रण पर स्वयं को केन्द्रित कर देते हैं । ग्रामीण जीवन की विसंगतियों और वहां की समस्याओं के चित्रण पर उनका ध्यान अपेक्षाकृत कम होता है । तात्पर्य यह है कि पहली कोटि के रचनाकार के यहां जो प्रमुख होता है, दूसरी कोटि वालों के यहां वह गौड़ होता है,और दूसरी कोटि वाले का जो प्रमुख होता है, वह पहली कोटि वाले के लिए गौड़ । तीसरी कोटि के ग्रामीण कथाकार इन दोनों के बीच पड़ते हैं । उनके यहां ग्रामीण जीवन वहां की प्रकृति, संस्कृति - सब कुछ विद्यमान हैं । लेखक इनके चित्रण में रस भी लेता है - जैसा कि आंचलिक कथाकारों के संदर्भ में दिखाई देता है, लेकिन उसका उद्देश्य ग्रामीण जीवन के यथार्थ का चित्रण करना होता है । वास्तव में

चित्रित हुआ है । तीनों कोटि के इन कथाकारों के यहां ग्रामीण परिवेश का सूक्ष्म पर्यवेक्षण और व्यापक अनुभव सामान्य रूप से मौजूद है।

ग्राम-कथाकारों में नागार्जुन महत्वपूर्ण कथाकार हैं । वे प्रेमचंद की परंपरा में आने वाले ग्राम कथाकारों में अग्रणी हैं, इसलिए जाहिरा तौर पर उनके उपन्यासों में ग्रामीण जीवन का यथार्थ, खास कर उसकी विसंगतियां और विद्रूपताएं चित्रित हुई हैं । हालांकि आंचलिक संस्पर्श भी उनके उपन्यासों में विद्यमान है, लेकिन वे आंचलिकता के अतिरेक का अतिक्रमण करते हैं और मुख्य रूप से ग्रामीण समाज के तत्कालीन संदर्भों को रचना के स्तर पर चित्रित करते हैं । उनके 'कुंभीपाक' उपन्यास में जहां आजादी-पूर्व के राष्ट्रीय आन्दोलन, किसान आन्दोलन और सामाजिक आन्दोलन जैसे सामाजिक राजनीतिक सन्दर्भ चित्रित हुए हैं, वहीं 'वरुण के बेटे' उपन्यास में आजादी बाद के राजनीतिक और सामाजिक संदर्भ चित्रित हुए हैं । 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में खास तौर से नारी जीवन से संबंधित सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भों की अभिव्यक्ति हुई है ।

नागार्जुन के बाद ग्राम कथाकारों में महत्वपूर्ण हैं - फणीश्वरनाथ रेणु ।रेणु और उनके 'मैला आंचल' उपन्यास को हिन्दी में 'आंचलिकता' लाने का श्रेय है । जाहिर है कि वे आंचलिक कथाकार हैं, इसलिए स्वाभाविक रूप से उनका विशेष ध्यान तत्कालीन युग के सन्दर्भों के व्यापक चित्रण पर नहीं रहा है - जैसा कि अधिकांश आंचलिक रचनाकारों के साथ होता है । बावजूद इसके, उनके उपन्यासों में तत्कालीन युग के सभी प्रमुख संदर्भ मौजूद हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता है । 'मैला आंचल' आंचलिक उपन्यास है, इसके बावजूद इसमें बदलते हुए गांव के कई संदर्भ, जैसे - पिछड़े गांवों में आधुनिकता का प्रवेश, राजनीति, शिक्षा और ज्ञान विज्ञान का प्रवेश, भूमिहीनों और पिछड़ों में आत्मबोध और आत्मसंघर्ष की चेतना का विकास, गांधीवादी मूल्यों की सत्य होती

प्रासंगिकता, मौजूद हैं । वर्तमान समय के ये सारे सन्दर्भ, `मैला आंचल` की आंचलिकता के दायरे से बाहर निकाल कर एक विस्तृत आयाम देते हैं ।

ग्राम कथा को एक नई दिशा देने का श्रेय श्रीलाल शुक्ल के `राग-दरबारी` को है । इस उपन्यास में लेखक ने ग्राम जीवन को नई दृष्टि से देखा है । वह दृष्टि ग्राम-जीवन को देखने परखनेवाली परंपरागत रूमानी दृष्टि से सर्वथा भिन्न है । `रागदरबारी` का शिवपालगंज गांव पहले की तरह सीधे और सपाट चरित्र वाले गांवों से सर्वथा भिन्न है । यहां गांव का वह भोलापन सिरे से गायब है जिसे देख कर रचनाकार `अहा ग्राम्य जीवन भी क्या !` कह देते थे अथवा उसमें स्वर्ग की परि-कल्पना कर लेते थे। यहां गांव में विद्रूपता और विसंगति है और यहां के `गंजहे ` भी काइयां और धूर्त हैं । ग्रामीण जीवन के बदलते स्वरूप की जो तस्वीर श्रीलाल शुक्ल ने इसमें प्रस्तुत की है, वह वर्तमान समय के बदलते हुए सन्दर्भों की उपज है । राजनीति की गिरावट और सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों की गिरावट के कारण हमारे गांव पतन के किस कगार पर पहुंच गये हैं, इसे कहने की आवश्यकता नहीं है ।

ग्राम-कथा के क्षेत्र में शिवप्रसाद सिंह का `अलग-अलग वैतरणी` उपन्यास कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । इस उपन्यास में आजादी के बाद के ग्रामीण जीवन टूटते मूल्यों, संबंधों और संवेदनाओं को दिखाया गया है । यह टूटन व्यक्ति, परिवार और गांव - प्रत्येक स्तर पर व्याप्त है। विडम्बना यह है कि जड़ता, अज्ञानता, जाति-पांति जिन्हें जल्दी टूटना चाहिए, वे धीरे धीरे टूट रहे हैं और इसके बदले में वे चीजें टूट रही हैं जिन्हें नहीं टूटना चाहिए ।

(iii) ऐतिहासिक उपन्यासों में चित्रित समय

सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यास लेखन की जो परंपरा प्रेमचंद युग में विकसित हुई थी, वह बाद के दिनों में भी चलती रही । इस परंपरा के प्रमुख लेखकों में भगवतीचरण वर्मा, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन और हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं । ऐतिहासिक उपन्यासों में चित्रित युग अतीत से संबंधित होता है, इसलिए स्वाभाविक रूप से यह सवाल खड़ा हो जाता है कि क्या ये उपन्यास उन युगीन सन्दर्भों से प्रभावित होते हैं, जिस युग में ये रचे गये होते हैं ? अथवा अपने वर्तमान सन्दर्भों में विच्छिन्न होकर ये उन युगीन सन्दर्भों को ही व्यक्त करते हैं, जो युग रचना का उपजीव्य होता है ।यदि उपन्यास सचमुच युग के उन सन्दर्भों से प्रभावित नहीं होता, जिसमें वह रचा गया होता है तो इसे उसका पलायनधर्मी चरित्र माना जाएगा और ऐसे में साहित्य के मूल्यांकन में युगबोध की खोज भी निरर्थक हो जाएगी। जहां तक उपन्यास और उपन्यासकार के युगबोध का सवाल है अथवा अपने युगीन सन्दर्भों से प्रभावित होने का सवाल है, इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि कोई भी उत्कृष्ट साहित्यिक कृति अपने युगीन सन्दर्भों अथवा युग बोध से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती । अपनी विधागत विशिष्टता केकारण उपन्यास तो और भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । असल में, कई बार वर्तमान सन्दर्भों के दबाव के कारण ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की जाती है, इसलिए ऐसे उपन्यासों में अतीतके परिवेश और कथानक का उपयोग करते हुए वर्तमान सन्दर्भों को चित्रित किया जाता है । विचारणीय बात यह है कि सबसे अधिक ऐतिहासिक उपन्यास स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान ही क्यों लिखे गये ? वर्तमान सन्दर्भों के दबाव के कारण अथवा वर्तमान-पराधीनता बोध से उपजी पलायन धर्मी चेतना के कारण । ऐसा लगता है कि वर्तमान युग और युगीन सन्दर्भों के दबाव के कारण ही इस समय इतनी बड़ी संख्या में ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये । वर्तमान सन्दर्भों का दबाव और उनसे प्रभावित रचनाकारों

की स्थिति के सम्बन्ध में डा० मैनेजरपाण्डेय ने लिखा है -"तब देश गुलाम था । उस समय अंग्रेजी राज्य के अत्याचारों से भरे हुए असह्य वर्तमान से मुक्ति की तलाश भारतीय जनता को थी और रचनाकारों को भी ।"[13] जिस तरह भारतीय जनता साम्राज्यवादी और सामंतवादी शक्तियों से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही थी, उसी तरह तत्कालीन रचनाकार भी संघर्ष कर रहे थे । इस मुक्ति संघर्ष में रचनाकारों के एक वर्ग ने जहां तत्कालीन यथार्थ को चित्रित किया, वहीं दूसरे वर्ग ने अपने गौरवशाली अतीत की तरफ देखा । उपन्यासों में अतीत के कथानकों और महान चरित्रों के उपयोग के मुख्यत: दो लाभ थे । पहला, लाभ यह था कि ऐसा करके स्वतंत्र अभिव्यक्ति के खतरों से बचा जा सकता था - ध्यातव्य है कि अंग्रेजी राज्य में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पाबन्दी थी । इसका दूसरा लाभ यह था कि गौरवशाली अतीत को याद करके जहां आत्मबल की पहचान की जा सकती थी, वहीं हीनता की भावना से भी उबरा जा सकता था । यहां उल्लेखनीय है कि तत्कालीन समय में अंग्रेजों द्वारा भारतीय संस्कृति, समाज और इतिहास को अत्यन्त हीन बताया जाता था और इस प्रकार भारतीयों में हीनता की भावना भरी जाती थी । यह अनायास नहीं है कि नवजागरण के मनीषियों के यहां भारत की नये सिरे से खोज और अतीत के गौरव गान की प्रवृत्ति एक चुनौती के रूप में विद्यमान है। इस काल के लेखकों ने यदि अपने इतिहास, संस्कृति औरभाषा का गुणगान किया तो उसके मूल में एक हद तक अंग्रेजों से मिलने वाली चुनौती थी । जाहिर है कि इतिहास का मूल्यांकन अथवा लेखन में उसका उपयोग, तत्कालीन सन्दर्भों से विच्छिन्न रहने के लिए नहीं, बल्कि उन्हीं संदर्भों के दबाव के कारण होता है । इसलिए, यह कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक रचनाएं भी उन युगीन सन्दर्भों से प्रभावित होती हैं, जिस युग में वे रची जाती हैं । क्या यह सच नहीं है कि प्रसाद ने जो भी नाटक लिखे हैं, उनका कथानक ऐतिहासिक, लेकिन सन्दर्भआधुनिक - युगीन राष्ट्रीय संदर्भ है । इस संदर्भ में हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उपन्यास का उल्लेख किया जा सकता है, जिसका परिवेश हर्षकालीन

भारतीय जनजीवन है, लेकिन इसमें सन्दर्भ, ठेठ आधुनिक संदर्भ हैं । इस में चित्रित सभी प्रमुख संदर्भ - देश में अखिल भारतीय चेतना का अभाव , जाति पांति और ऊंच-नीच की भावना तथा स्त्री पीड़ा, आधुनिक सन्दर्भ है । ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने युगीन संदर्भों से प्रभावित होने का एक कारण यह भी है कि इनमें कथानक और परिवेश तो अतीत का होता है, लेकिन रचनाकार की दृष्टि उसके वर्तमान युग की होती है और रचनाकार की दृष्टि उसके वर्तमान सन्दर्भों के प्रभावसे मुक्त नहीं हो सकती । इस सन्दर्भ में डा० रामदरश मिश्र ने सही लिखा है -'कथावस्तु पुरानी हो या नई, जीवन साहित्य में संयोजन नवीन दृष्टि से किया जाता है । वह दृष्टि आधुनिक युगबोध से निर्मित होती है ।'[14] तात्पर्य यह है कि आधुनिक दृष्टि से इतिहास का मूल्यांकन किया जाता है, इसलिए इतिहास के प्राचीन परिवेश पर आधुनिक युग बोध का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है । उदाहरण के लिए यशपाल के `दिव्या` और भगवतीचरण वर्मा के `चित्रलेखा` उपन्यास को देख सकते हैं । ये दोनों उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखे गये हैं पर यहां भी इन लेखकों का उद्देश्य इतिहास की पुनर्रचना करना नहीं है । वस्तुत: इन लेखकों का उद्देश्य वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इतिहास का विवेचन विश्लेषण तथा वर्तमान विसंगतियों और विषमताओं का चित्रण ऐतिहासिक संदर्भों में करना है ।ऐसा करके लेखकों ने अपनी युगीन विषमताओं और विसंगतियों के साथ इतिहास की विषमताओं और विसंगतियों का ही चित्रण नहीं किया, बल्कि इनके आपसी अन्तर्सम्बन्धों का उद्घाटन भी किया ।`दिव्या`उपन्यास में स्त्री के सम्बन्ध में जो सवाल उठाये गये हैं, वे पहले भी थे और आज भी मौजूद हैं । तात्पर्य यह है कि पुरुषवादी वर्चस्व और सामंती मूल्यों के अधीन नारी की जो वर्तमान स्थिति है, इसके लिए हमारा अतीत भी जिम्मेदार है क्योंकि वर्तमान समय की कई समस्याओं की जड़ इतिहास में है। इसलिए इन समस्याओं से मुक्ति केलिए इतिहास का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करना और इतिहास की गलतियों से सबक लेना निहायत जरूरी है ।यही वर्तमान समय की मांग भी है ।

ऐतिहासिक उपन्यासों में सामान्यत: कल्पना का विशिष्ट उपयोग किया जाता है। कई बार तो इतिहास के परिवेश और उसकी घटनाओं का उपयोग, नाम मात्र के लिए किया जाता है और कल्पना का उपयोग भरपूर किया जाता है । ऐसे उपन्यासों में अधिकांश पात्र, घटनाएं और स्थितियां कल्पित होती हैं । उपन्यास में कल्पना के रचनात्मक उपयोग के कई लाभ हैं, लेकिन इसका एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि ऐसा करने से लेखक को अपने युगीन सन्दर्भों को चित्रित करने का उपयुक्त अवकाश मिल जाता है । जबकि कुछ लेखक ऐसे होते हैं जो ऐतिहासिक उपन्यास लेखन में कल्पना केउपयोग का विरोधकरते हैं और ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन को इतिहास-लेखन बनाने का आग्रह करते हैं । ऐसे लेखकों को जिन्हें उपन्यास की युग-सापेक्षता और उसकी विशिष्टता का बोध नहीं होता, उपन्यास नहीं, ~~बल्कि इतिहास लेखन की युग सापेक्षता और उसकी विशिष्टता का बोध नहीं होता । उपन्यास नहीं~~,बल्कि इतिहास-लेखन करना चाहिए । ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन में सिर्फ इतिहास लेखनकी अपेक्षा रखने वालों के यहां उस युग के सन्दर्भ लगभग नहीं मिलते हैं जिसमें उपन्यास लिखा गया होता है । ऐसे उपन्यासों में सिर्फ उसी समय के सन्दर्भ मौजूद होते हैं जो काल खण्ड उनमें चित्रित होता है । अपने युगीन सन्दर्भों से विच्छिन्न रचना का महत्व, प्रासंगिकता और मूल्यवत्ता की दृष्टि से क्या होता है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं है । ऐसी रचनाएंइतिहास के गर्त में ऐसे गुम हो जाती हैं कि कोई उनकी नोटिस लेने वाला भी नहीं रह जाता।

(घ) स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास : परिवर्तित स्वरूप और युगबोध

स्वातंत्र्योत्तर भारत में सामाजिक,आर्थिक और शैक्षिक परिवर्तन की प्रक्रिया का व्यापक प्रभाव हिन्दी कथा-लेखन पर पड़ा है । आज का मुस्लिम लेखन हो, महिला लेखन हो अथवा दलित लेखन - ये सभी इसी प्रक्रिया की उपज हैं । जहां तक महिला और दलित कथाकारों के हिन्दी में

आगमन का सवाल है, वह निश्चित रूप से नई बात है । परन्तु, महिलाओं और दलित समाज की कथा-साहित्य में उपस्थिति नई बात नहीं है । यह समाज हिन्दी कथा साहित्य में बहुत पहले से ही उपस्थित रहा है । इस दृष्टि से हिन्दी-कथा-साहित्य में मुस्लिम समाज की उपस्थिति निश्चय ही एक नई, किन्तु सुखद घटना है । यह अत्यन्त खेदजनक है कि हिन्दी में प्रेमचंद को छोड़ कर किसी भी कथा-लेखक के यहां मुस्लिम समाज अपने सुख-दुख, आशाओं-आकांक्षाओं के साथ उपस्थित नहीं रहा है । वस्तुत: मुस्लिम समाज हमारे देश और हमारी व्यापक समाज-व्यवस्था का एक अनिवार्य हिस्सा है जिसका हिन्दी कथा-साहित्य में अनुपस्थित रहना निश्चय ही खेदजनक है । यहां उल्लेखनीय है कि मुस्लिम समाज के अपने सुख दुख होते हैं, उसकी अपनी आशाएं आकांक्षाएं होती हैं, जिनका चित्रण हिन्दी कथा-साहित्य में अपेक्षित है ।परन्तु, यह सच है कि हिन्दी में मुस्लिम लेखकों के आगमन तक मुस्लिम समाज, कथा-साहित्य से लगभग उपेक्षित रहा है ।

स्पष्ट है कि प्रेमचंद के बाद, हिन्दी कथा साहित्य, खास कर उपन्यास के क्षेत्र में मुस्लिम समाज की अनुपस्थिति से जो खालीपन आ गया था, उसे भरने का कार्य किया, आजादी के बाद मुस्लिम लेखकों के इस क्षेत्र में आगमन ने । इन लेखकों के युगबोध का गहरा सम्बन्ध अपने समय और समाज से है । इनकी दृष्टि भी अपने समाज और परिवेश के अनुभवों से गुजर कर विकसित हुई है, इसलिए चीजों को देखने का उनका नजरिया भी अलग है । जाहिर है कि मुस्लिम लेखकों ने अपने समाज के विभिन्न सन्दर्भों कोएक नई दृष्टि से देखा है और उसे एक नये रूप में प्रस्तुत किया है।

मुस्लिम लेखकों ने अपने उपन्यासों में जहां एक ओर भारतीय समाज में मुसलमानों की वर्तमान स्थिति का अंकन किया है, वहीं दूसरी ओर इस समाज की समस्याओं, आशाओं, आकांक्षाओं और अन्तर्विरोधों को भी

दिखाया है । मुस्लिम समाज में व्याप्त असुरक्षा की भावना को मंजूर एहते शाम के `सूखा बरगद` और शानी के `काला जल` में दिखाया गया है । इनमें दिखाया गया है कि आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ा, धार्मिक पाखण्ड और अंधविश्वासों से जकड़ा मुस्लिम समाज किस तरह समाज की मुख्य धारा से अलग-थलग पड़गया है और इस अलगाव के कारण उसमें किस प्रकार की असुरक्षा की भावना व्याप्त हो गई है । इसके अलावा, इनमें अस्मिता बोध की प्रवृत्ति और इसके लिए जिम्मेदार कारणों की खोजबीन भी की गई है । मुस्लिम समाज के आपसी अन्तर्विरोधों को `आधा गांव` और `झीनी झीनी बीनी चदरिया` में दिखाया गया है । सामान्यत: यह मान लिया जाता है कि जाति-पांति और ऊँच-नीच की समस्या हिन्दू समाज की समस्या है, लेकिन इन उपन्यासों में यही दिखाया गया है कि मुस्लिम समाज भी इस समस्या से वैसे ही ग्रस्त है, जैसे हिन्दू समाज । `आधा गांव` में जहां हिन्दू मुसलमानों के आपसी विभेद को दिखाया गया है, वहीं मुसलमानों के आपसी भेद-भाव को भी दिखाया गया है। `झीनी झीनी बीनी चदरिया` में यह दिखाया गया है कि किस तरह एक मुसलमान बुनकर मतीन अपनी ही जाति कैहाजी साहब के शोषण का शिकार बनता है । यहां लेखक इस धारणा का खण्डन करता है कि मुसलमान, मुसलमान का हमदर्द होता है, शोषक नहीं ।

स्वातंत्र्योत्तर कथा साहित्य में महिला-लेखन की सशक्त उपस्थिति दर्ज हुई है । सदियों से सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़ा होने के कारण हमारी कुल आबादी का लगभग आधा हिस्सा कथा-लेखन में अपनी सही भागीदारी सुनिश्चित करने में असफल रहा है । लेकिन, आजादी के बाद परिदृश्य बदला है और इस क्षेत्र में इस वर्ग की भागीदारी बढ़ी है । इनका लेखन इस अर्थ में भिन्न है कि पहले जहां महिलाओं के जीवन पर सहानुभूति का साहित्य लिखा जाता था - पुरुष लेखकों द्वारा, वहीं अब उनकी उपस्थिति से महिला जीवन पर स्वानुभूति

का साहित्य लिखा जाने लगा है । महिला लेखन का सही आकलन प्रस्तुत करते हुए कुसुम अंसल लिखती हैं - 'पुरुष प्रधान समाजने जिस फ्रेम में उनकी तस्वीर जड़ी थी, उससे बहुत सी महिला लेखिकाएं बाहर निकल आई हैं, औरत होने के अर्थ संदर्भ, पुराने आंकड़ों को उन्होंने बदल डाला है ।'[15] तात्पर्य यह है कि महिला जीवन से जुड़े विभिन्न सन्दर्भों को इन्होंने नई दृष्टि से देखा है और इन सन्दर्भों को नयेरूप में अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। महिला लेखन में प्रमुख रूप से स्त्री की यातना, उसके संघर्ष और आशाओं-आकांक्षाओं के विभिन्न सन्दर्भों को सफलतापूर्वक व्यक्त किया जा रहा है । कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, राजी सेठ, प्रभा खैतान, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, अलका सरावगी आदि लेखिनकाओं के कथा-संसार में स्त्री जीवन के जिन सन्दर्भों को चित्रित किया गया है, वह आज के स्त्री जीवन और उसके विभिन्न सन्दर्भों की यथार्थ तस्वीर है ।

स्त्री-लेखिकाओं की भांति, दलित लेखकों की सक्रिय उपस्थिति भी वर्तमान कथा-लेखन में दर्ज हुई है । इनका लेखन अभी आरंभिक अवस्था में है, इसलिए इसके संबंध में विस्तारपूर्वक कुछ कह पाना संभव नहीं है । फिलहाल, इनके लेखन में जो विशेषताएं लक्षित हुई हैं, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनका कथा-लेखन स्वानुभूति जीवन के विभिन्न सन्दर्भों को व्यक्त करना । इनके यहां व्यवस्था के प्रति आक्रोश और अस्मिता-बोध की चेतना प्रमुख रूपसे विद्यमान है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उपन्यास अपनी विधागत विशिष्टता के कारण अपने युग बोध से गहरे में प्रभावित होता है । इस सम्बन्ध में हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियां आश्चर्यचकित करने वाली हैं । हिन्दी उपन्यास का इतिहास बहुत पुराना नहीं है । फिर भी समय के जिस प्रवाह में वह गतिशील रहा है, उसके प्रमुख सन्दर्भों को चित्रित करता रहा है ।

संदर्भ

1. राल्फ फाक्स - उपन्यास और लोकजीवन (भूमिका, रामविलास शर्मा), पृ0 4
2. वही, पृ0 10
3. पंकज बिष्ट - अपहरण का गल्प - हंस (उपन्यास विशेषांक) सन् 1999, पृ0 144
4. बच्चन सिंह - आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 80
5. वही, पृ0 82
6. मैनेजर पाण्डेय - राष्ट्रवाद , उपन्यास और प्रेमचंद, हंस, मई 1999, पृ0 35
7. बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 196
8. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास, एक अन्तर्यात्रा, पृ0 42
9. रामस्वरूप चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ0 68 पर (प्रेम पथिक से उद्धृत)
10. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ0 97
11. वही, पृ0 98
12. वही, पृ0 157
13. मैनेजर पाण्डेय, राष्ट्रवाद, उपन्यास और प्रेमचंद - हंस, मई 1999, पृ0 33
14. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, पृ0 183
15. कुसुम अंसल - संवाद (आजादी के पचासवर्ष और हिन्दी महिला - लेखन) - इंडिया टुडे (साहित्य वार्षिकी 1996) पृ0 19

अध्याय - 2 : नागार्जुन के उपन्यास और युग चेतना

(i) नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित युगीन परिस्थितियां

(क) राजनीतिक परिस्थितियां

(ख) आर्थिक परिस्थितियां

(ग) सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियां

(ii) नागार्जुन की विचारधारा

उपन्यास अपनी प्रकृति में सर्वाधिक युग-सापेक्ष विधा है । आशय यह है कि गतिशील इतिहास की प्रमुख हलचलों को उपन्यास जिस संवेदना के साथ पकड़ता है और उन्हें अभिव्यक्त करता है, वह साहित्य की दूसरी विधाओं के लिए अत्यन्त जटिल है । नागार्जुन के उपन्यास इसके अपवाद नहीं हैं । उनके उपन्यास अपने समय और समाज की बाह्य तथा आंतरिक हलचलों को चित्रित करने में पूरी तरह सफल हुए हैं। यही कारण है कि उनके उपन्यासों को पढ़कर सहज ही उनकी युग-सापेक्षता का बोध होने लगता है ।

नागार्जुन का सक्रिय राजनीतिक और सामाजिक जीवन से पहला संपर्क 1930 के आसपास होता है ।इस समय नागार्जुन वाराणसी में थे और देश-विदेश के प्रमुख घटनाक्रमों से अपना संपर्क बनाए हुए थे । उल्लेखनीय है कि राजनीतिक, सांस्कृतिक , सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से यह युग भारतीय इतिहास का अत्यन्त महत्वपूर्ण और उथल-पुथल भरा युग था । राजनीतिक स्तर पर, स्वाधीनता-आन्दोलन, किसान, मजदूर, आन्दोलन और सामाजिक सुधार आन्दोलन, इस समय में चलने वाले प्रमुख आन्दोलन थे । नागार्जुन रचनाकार के रूप में ही नहीं, व्यक्ति के रूप में भी अपने युग की प्रमुख घटनाओं से गहरे अर्थों में जुड़े हुए थे । यह अनायास नहीं है कि उनके `बलचनमा` उपन्यास में सन् 1930 के आसपास और उसके बाद की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक घटनाओं की समग्र तस्वीर प्रस्तुत की गई है । यहां उल्लेखनीय है कि नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित हुए, सन् 1930 से लेकर स्वाधीनता के बाद तक फैला हुआ है। इसका आशय यह नहीं है कि 1930 के पहले का समय और उसके प्रमुख सन्दर्भ नागार्जुन के उपन्यासों में नहीं चित्रित हुए हैं । `बाबा बटेसर नाथ` नागार्जुन का ऐसा उपन्यास है जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत आगमन और इसके शासन तक के पुराने सन्दर्भों को अपने भीतर समेटता है । परन्तु यहां उल्लेखनीय है कि `बाबा बटेसरनाथ` शोध-क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं है ।

शोध के लिए जिन उपन्यासों को आधार बनाया गया है, वे क्रमश: इस प्रकार हैं --

1. बलचनमा : चित्रित कालखण्ड सन् 1930 के आसपास से लेकर 36 तक ।
2. रतिनाथ की चाची : चित्रित कालखण्ड, सन् 37 से 40 तक ।
3. वरुण के बेटे : चित्रित कालखण्ड, आजादी के बाद का ।

स्पष्ट है कि इन तीनों उपन्यासों में चित्रित कालखण्ड सन् 30 से लेकर आजादी के बाद तक फैला हुआ है । इन उपन्यासों की विशेषता इस बात में है कि ये अपने युग की प्रमुख घटनाओं की केवल फेहरिस्त ही नहीं प्रस्तुत करतेहैं, बल्कि उन घटनाओं का जनता पर प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया को भीचित्रित करते हैं । एक महान रचनाकार अपने युगीन सन्दर्भों से ही नहीं प्रभावित होता है, वरन् वह युग-युग के प्रमुख सन्दर्भों से भी प्रभावित होता है । इस अर्थ में नागार्जुन एक महान रचनाकार हैं क्योंकि उनके यहां अपने युग के प्रमुख सन्दर्भों के अलावा पीछे के उन युगीन सन्दर्भों की झलक भी मिल जाती है जो हमें गहरे में प्रभावित करती हैं अथवा जिनकी प्रासंगिकता किसी युग-विशेष तक सीमित नहीं होती । आगे इस बात की चर्चा होगी कि किस तरह नागार्जुन अपने पिछले युग के प्रमुख सन्दर्भों से प्रभावित हुए हैं और उन्हें अपने उपन्यासों में चित्रित करने मेंसफल भी हुए हैं ।

नागार्जुन के उपन्यास अपने समय की सभी प्रमुख घटनाओं, जैसे - असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, नमक भंग कानून, गांधी-इरविन समझौता, 1934 का भूकंप और उसके बाद अकाल, 1937 में कांग्रेस मंत्रिमण्डल का गठन, द्वितीय विश्व युद्ध, कांग्रेस मंत्रिमंडल का इस्तीफा, द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर का रूस पर हमला, 1942 का

भारत छोड़ो आन्दोलन, स्वतंत्रता-प्राप्ति और जमींदारी-उन्मूलन तथा उसकी कमियां आदि को स्पष्ट रूप से अथवा संकेत रूप से चित्रित करने में सफल हुए हैं । उनके ये उपन्यास इन तत्कालीन घटनाओं की संक्षिप्त चर्चा के अलावा तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहलुओं की विस्तार से चर्चा करते हैं ।

(क) राजनीतिक परिस्थितियां

नागार्जुन के उपन्यास अपनी युगीन राजनीति और इससे जुड़े वैचारिक विमर्श की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुतकरते हैं । वैसे भी नागार्जुन के सम्पूर्ण साहित्य में जिस तरह का राजनीतिक विमर्श प्रस्तुत हुआ है, उससे राजनीति के प्रति लेखक की गहरी दिलचस्पी का बोध होता है । उनके यहां, तत्कालीन राजनीति यदि प्रमुख रूप से मौजूद है तो इसके कारण की खोज उनके राजनीति सम्बन्धी विचारों में की जानी चाहिए ।साहित्य और राजनीति के अन्तर्सम्बन्धों पर विचार करते हुए नागार्जुन ने कहा है -- '... साहित्य केवल आत्मकेन्द्रित आत्मचिन्तन नहीं । न ही वह आराम-तलब वर्गों का मनोरंजन मात्र है । उसे राजनीति से अलग किया ही नहीं जा सकता । ... जब देश पराधीन हो और साम्राज्यवादी शोषण दमन और अत्याचार बढ़ रहे हों तो ऐसे में कोई साहित्यकार न तो राजनीति से अछूता रह सकता है और न ही राजनीतिक घटनाएं ही साहित्य की अभिव्यक्ति पाने से रह सकती हैं ।'[1] तात्पर्य यह है कि साहित्य का राजनीति से गहरा सरोकार है । इस दृष्टि से नागार्जुन के उपन्यासों में युगीन राजनीति और इसके वैचारिक विमर्श की गहरी मौजूदगी स्वाभाविक है ।

'बलचनमा' और 'रतिनाथ की चाची' जैसे उपन्यासों का युगीन परिवेश भारतीय राजनीति में गांधीवाद के व्यापक प्रभाव और उसके चरित्रगत गुण-दोषों के ताने-बाने से निर्मित हुआ है । बलचनमा में

भारतीय राजनीति के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करते हुए यह दिखाया गया है कि तत्कालीन समय में भारतीय जनमानस और राजनीति पर गांधी जी का कितना व्यापक असर था । उनके इस व्यापक असर की अभिव्यक्ति संपूर्ण भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में देखी जा सकती है । 'बलचनमा' उपन्यास में गांधी जी द्वारा चलाए जा रहे 'सक्रिय अवज्ञा आन्दोलन' और 'नमक भंग आन्दोलन' का उल्लेख करते हुए यह दिखाया गया है कि -'उन दिनों गांधी जी का बड़ा जोर था। पकड़-धकड़ जारी थी । ... गांधी महात्मा सरकार को झुकाना चाहते थे ।'[2] इस आन्दोलन के दौरान गांधी जी की लोकप्रियता और उनके व्यापक प्रभाव का परिणाम था कि इसमें भारतीय जनता बहुत बड़े पैमाने पर भागीदारी कर रही थी । उन दिनों गांधी जी का प्रभाव इतना व्यापक था कि उनके आह्वान पर नौकरी पेशे वाले लोग सरकारी नौकरियां छोड़ कर, पढ़ने वाले नवयुवक स्कूल और कालेज छोड़ कर इस आन्दोलन में कूद रहे थे । इस आन्दोलन के दौरान जहां 'कांग्रेसी लोग नमक बना बना कर जहल (जेल) जा रहे थे'[3] वहीं 'गांधी महात्मा के हुकुम से बाबू (छात्र) लोग गिरफ्तार हो रहे थे ।'[4] 'फूल बाबू' उन दिनों कालेज के छात्र थे, उन पर भी 'सनक सवार' हो गई और वे नमक बना कर गिरफ्तार हो गये । इस उपन्यास में यह स्वीकार किया गया कि राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन को सर्वप्रथम व्यापक जनाधार देने का श्रेय गांधी जी को जाता है । लेकिन यहां स्पष्ट करना आवश्यक है कि नागार्जुन गांधी जी और कांग्रेस के चरित्र और उसकी कार्य प्रणाली के मुखर विरोधी हैं । जाहिर है कि गांधीवाद और कांग्रेस के प्रति उनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक रहा है ।

निःसन्देह, गांधी जी स्वाधीनता आन्दोलन के सर्वाधिक सर्वस्वीकृत नेता रहे हैं । इसका कारण यह है कि वे सभी जाति, धर्म और वर्ग के हितों की रक्षा के समर्थक थे । यही नहीं, वे भारतीय समाज के

तमाम अन्तर्विरोधों के बीच समन्वय स्थापित करके राष्ट्रीय स्वाधीनता को एक मजबूत आधार प्रदान करना चाहते थे । गांधी जी अपने इस उद्देश्य में सफल भी हुए । लेकिन विचारणीय बात यह है कि तमाम अन्तर्विरोधों से ग्रस्त भारतीय समाज में 'समन्वय' और 'सद्भाव' स्थापित कर देने मात्र से क्या इसके आपसी अन्तर्विरोध खत्म हो सकते हैं ? या ऐसा कर देने से सभी जाति, वर्ग और धर्म के लोगों के हितों की रक्षा हो सकती है ? इसका उत्तर संभवत: नकारात्मक होगा । आशय यह है कि भारतीय समाज के अन्तर्विरोधों और उसके विषमतापरक स्वरूप को पहचाने बिना, इसके मूलभूत ढांचे में परिवर्तन किए बिना किसी भी तरह के समन्वय की परिकल्पना बेकार है । इस सम्बन्ध में जहां तक गांधी जी की मान्यताओं का सवाल है तो वे भारतीय समाज के मूलभूत ढांचे में परिवर्तन के विरोधी थे । यही कारण है कि स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान जहां एक ओर वे किसानों मजदूरों के हितों की रक्षा की बात कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर पूंजीपतियों और जमींदारों के हितों की ।

नागार्जुन की दृष्टि में गांधी जी, और कांग्रेसका चरित्र कुल मिला कर प्रतिक्रियावादी रहा है । इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान अथवा उसके बाद भी स्वयं गांधी जी और उनकी कांग्रेस कभी भी किसानों मजदूरों के हितों की प्रबलसमर्थक नहीं रही । गांधी जी का चरित्र समझौतावादी था, इसलिए वे समाजवादियों की तरह पूंजीपतियों और जमींदारों के खिलाफ संघर्ष के पक्षधर नहीं थे । गांधी जी के इस समझौतावादी चरित्र का ही यह नतीजा था कि तत्कालीन समय में कांग्रेस पर जमींदारों और पूंजीपतियों का अच्छा खासा वर्चस्व स्थापित हो गया था । यह वर्ग एक तरफ जहां अंग्रेजी सत्ता का समर्थन कर रहा था, वहीं दूसरी ओर कांग्रेस में भी अपना वर्चस्व बढ़ाता जा रहा था । सत्ता के साथ चिपके रहना, इस वर्ग का स्वभाव है । तत्कालीन समय में यह दिख रहा था कि यदि सत्ता के साथ अपना

संबंध क्या रखना है तो कांग्रेस से जुड़ना, उसमें अपना वर्चस्व स्थापित करना जरूरी है क्योंकि भविष्य में सत्ता की बागडोर कांग्रेस के हाथों में जानी सुनिश्चित थी । कांग्रेस से पूंजीपतियों और जमींदारों के जुड़ाव के मूल में उनकी सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा छिपी हुईथी । कांग्रेस के प्रति पूंजीवादियों के जुड़ाव के मूल में निहित जो प्रवृत्ति थी, इसका बोध बलचनमा को है । वह कहता है -"कलकत्ता, बम्बई के सेठ साहूकार भीतर ही भीतर गांधी जी का पक्ष ले रहे थे । उनको साफ-साफ लौकता था कि सुराज होने से सबसे जादती भलाई उन्हीं की होगी ।... अभी जो दुकार सारी धन संपदा अंग्रेज ले जाते हैं, सुराज होने पर वह सब सीधे उनके अपने खजाने में आने लगेगी ।"[5] कांग्रेस से जुड़ने का दुहरा लाभ था । इससे भारत की सत्ता और संपत्ति दोनों का भरपूर दोहन किया जा सकता था । जमींदारों और पूंजीपतियों की यह संकीर्ण सोच देश के प्रति उन की नकारात्मक रवैया का परिचय ही नहीं देती, वरन स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान उनकी महान् (?) भूमिका का परिचय भी देती है ।

नागार्जुन के यहां, जहां गांधीवाद और कांग्रेस के अभिजात्य चरित्र का उद्‌घाटन हुआ है, वहीं कांग्रेसियों और गांधीवादियों के भ्रष्ट आचरण तथा उनके दोमुहेपन की पोल खोली गई है । कांग्रेस और गांधीवाद के प्रति उनकी आलोचनात्मक दृष्टि का पता इसी बात से चलता है कि उन के यहां जो भी कांग्रेसी चरित्र हैं, वे भ्रष्ट, बेइमान और दुहरे चरित्र वाले हैं । पता नहीं, विचारधारात्मक आग्रह के कारण या कांग्रेस के प्रति पूर्वग्रह होने के कारण उनके उपन्यासों में कोई भी ऐसा सशक्त कांग्रेसी चरित्र मौजूद नहीं है, जो कर्मठ और ईमानदार हो। यदि कुछ कांग्रेसियों कोजीवन के आरंभिक दिनों में कर्मठ ईमानदार और सद्‌चरित्र दिखाया भी गया है तो अंत में उनकी परिणति कांग्रेस से पलायन में अथवा समाजवादी होने में दिखाई गई है। `बलचनमा` उपन्यास के फूल बाबू जहां पहली श्रेणी के कांग्रेसी हैं, वहीं राधाबाबू और डा. रहमान दूसरी श्रेणी के ।

फूल बाबू, कांग्रेस के प्रतिनिधि चरित्र हैं, जो सैद्धांतिक स्तर पर गांधीवादी मूल्यों के घोर समर्थक हैं, लेकिन व्यवहारिक जीवन में गांधी वादी मूल्यों से उनका कुछ भी लेना देना नहीं है । वे जीवन के आरंभिक दिनों में, अपनी वर्गीय चेतना के विरुद्ध गांधीवादी मूल्यों को आचरण में उतारते हैं, लेकिन यह स्थिति बहुत दिनों चलती है और उनका वास्तविक चेहरा जल्दी ही सब के सामने आ जाता है । 'बलचनमा' के एक प्रसंग में दिखाया गया है कि बलचनमा की बहन रेबनी के साथ उसके छोटे मालिक बलात्कार का प्रयास करते हैं और इसघटना से क्षुब्ध बलचनमा, फूल बाबू से सहायता प्राप्त करने की उम्मीद करता है । उसे फूल बाबू से सहायता प्राप्त होने की उम्मीद इसलिए है, क्योंकि वह सोचता है : 'फूल बाबू जब गांधी महत्मा के चेला हो गये हैं तो हमारे मालिक को इस जोर जुलुम के लिए दो बात जरूर कहेंगे ।'[6] लेकिन फूल बाबू जैसे कांग्रेसी नेता से उसे घोर निराशा तब होती है, जब वह उनका आश्चर्यचकित करने वाला जवाब सुनता है । फूल बाबू ठेठ नेताओं के अन्दाज में बलचनमा को जवाब देते हैं -'तुम्हारा तो आपस का झगड़ा है, बहिया महतो का । इसका निपटारा भी तुम्हीं दोनों कर लो । इसमें मेरी जरूरत नहीं । जा जा कर अपने मालिक के ही पैर पकड़ वह तुझे माफ कर देंगे ।'[7] फूल बाबू के रूप में लेखक ने उन कांग्रेसी नेताओं की वास्तविकता को उघाड़ा है जो दोहरे व्यक्तित्व वाले हैं । इस व्यक्ति का, और कई अन्य कांग्रेसियों के चरित्र का उद्घाटन, एक बार पुन: भूकंप पीड़ित राहत कार्य के समय में होता है । भूकम्प से प्रभावित लोगों और इलाकों में राहत कार्य करने के लिए कांग्रेस ने जब रिलिफ फण्ड खोला तो इस सामाजिक कार्य में भी फूल बाबू और उनके कांग्रेसियों ने खूब हाथ साफ किए । ऐसे भ्रष्ट कांग्रेसी, जो सामाजिक कार्यों में भी लूट खसोट करने से बाज नहीं आते, अन्तत: जनता के लिए 'अधर्मी' के पात्र बनते हैं । अनायास नहीं कि फूल बाबू के प्रति बलचनमा के मन में 'करतधर्मी' उत्पन्न हो जाती है । फूल बाबू की तरह ऐसे लोकों

कांग्रेसी थे जिनका व्यक्तित्व दुहरा था । बाहर से वे जितने सदाचारी और नैतिक दिखते थे अन्दर से उतने ही अनैतिक और विलासी थे । कांग्रेसियों की इस विलासितापूर्ण और अनैतिक जीवन-शैली के बारे में बलचनमा कहता है -'किसी को चुनियायी हुई धोती चाहिए, तो किसी के बदन में घन्टा भर मालिश होना चाहिए । सोते वक्त पैर जंतवाना (चपवाना) किन्हीं बाबू के लिए जरूरी था तो किन्हीं को साहोर का दातवन चाहिए । कोई पान के पीछे पागल थे तो किन्हीं को बढ़ियम का सिगरेट ही । किन्हीं को उंगली फोड़वाने का सौख था तो किन्हीं के माथे पर जवाकुसुम तेल सोते वक्त मलना ही पड़ेगा ।'[8] ये ऐसे 'सुराजी' अर्थात् कांग्रेसी थे जो अपने सामंती संस्कारों से मुक्त नहीं थे । बलचनमा तत्कालीन कांग्रेसीस्वराजियों की मानसिकता के बारे में कहता है कि उनमें से अधिकांशत: 'ऐसे ही मिले हैं जिनको जी सरकार कहलाते में बड़ा निम्मन (अच्छा) बुझाता है । न कहो तो गुर्रा-गुर्राकर ताकते रहेंगे । जिनगी भर जिनके कान 'मालिक-मालिक', 'सरकार-सरकार' हुजूर-हुजूर सुनते आये हैं, उनके लिए इन शब्दों का बड़ा महातम है ।'[9] जब कांग्रेस के भीतर ऐसी सामंती मानसिकता और ऐसे भ्रष्ट आचरण वाले लोग विद्यमान थे, तो स्वाभाविक रूपसे इस बात की कल्पना की जा सकती है कि कांग्रेस का संरचनात्मक कार्यक्रम और समाज-कल्याण कार्यक्रम भी भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हो सकता । 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में कांग्रेस द्वारा स्थापित 'चरखा संघ' के भ्रष्ट स्वरूप का चित्रण किया गया है ।इसमें दिखाया गया है कि यह संगठन गांधी जी के संरचनात्मक कार्यक्रम को गति प्रदान करने के बजाए, भ्रष्टाचार में संलिप्त है । इस उपन्यास की नायिका 'गौरी' जो अपने परिवार और समाज से उपेक्षित होकर, आर्थिक जरूरतों को पूरा करने के लिये चर्खा चलाती है,अधिक प्रकार'चरखा संघ' वालों के बेइमानी की शिकार होती हैं, इसे लेखक इन शब्दों में व्यक्त करता है, 'चरखा संघ वाले भी कम चालाक नहीं होते । चाची (गौरी) जैसी कत्तिनों के सूत को कभी तो एक सौ दस नम्बर करार देते हैं और कभी साठ । भरू मार कर कत्तिनों को यह सब बर्दाश्त करना

पड़ता है, तभी तो चाची जैसी कर्मिष्ठ अखिलभारतीय सूत प्रतियोगिता` में सर्वप्रथम पदक पाने पर भी इतनी कम मजदूरी पाती हैं ।`[10] चाची (गौरी) `चरखा संघ` वालों की इस बेइमानी से निराश होती हैं । उनी समझ में यह नहीं आता कि `गांधी जी के चेले इस प्रकार की बेइमानी क्यों करते हैं ।`[11]

नागार्जुन का मानना है कि स्वतन्त्रता-पूर्व कांग्रेसी संगठनों में जो भ्रष्टाचार व्याप्त था, वह स्वतन्त्रता के बाद और अधिक हो जाता है । `वरुण के बेटे` उपन्यास में एक कांग्रेसी संगठन `हिन्द हितकारी समाज` के भ्रष्ट चरित्र को नागार्जुन ने तीक्ष्ण स्वर से उद्घाटित किया है । `कोसी बांध परियोजना` के निर्माण के लिए यह संगठन `श्रमदान का आह्वान` करता है, लेकिन वास्तव में इस संगठन के लोगों के लिए श्रमदान, मात्र `बैठे ठाले का मनोरंजन` बनकर रह जाता है । यही नहीं, `मेहनताना` देकर मजदूरों से काम लेने का समर्थन करने वाले ये लोग व्यवहार में ठीक उलटा काम करते हैं । इस उपन्यास का एक पात्र `सुरसुन` इस बात से दुखी है कि इस योजना में कार्य करने वाले मजदूर श्रम करते हैं, फिर भी उन्हें मजदूरी नहीं मिलती । सुरसुन `हिन्द हितकारी समाज` वाले सुराजियों से दुखी हो कर उलाहना भरे स्वर में कहता है कि इस परियोजना पर, `... पानी की तरह रकम बहाई जा रही है । फिर भी गरीब मजदूरों के साथ ही सुराजी बाबू लोग इस तरह का खिलाड़ क्यों कर रहे हैं ?... हिन्द हितकारी समाज नहीं पेट हितकारी समाज । छी - छी - छी !`[12]

कांग्रेसियों और खास कर गांधीवादी कांग्रेसियों के प्रति नागार्जुन का जैसा दृष्टिकोण रहा है, वैसा दृष्टिकोण समाजवादियों और साम्यवादियों के प्रति नहीं । वामपंथी विचारधारा से प्रतिबद्ध होने के परिणामस्वरूप उनके यहां समाजवादियों और साम्यवादियों के जो चरित्र उभरे हैं, वे कई अर्थों में कांग्रेसियों (गांधीवादी) से भिन्न हैं और विशिष्ट

भी । `बलचनमा` के राधा बाबू हों, `रतिनाथ की चाची` के ताराचरण अथवा `वरुण के बेटे ` के मोहन मांझी और मधुरी, ये सभी वामपंथी विचारधारा से युक्त होने के कारण ही कांग्रेसियों की तुलना में अधिक ईमानदार, कर्तव्यनिष्ठ और जागरूक बन पड़े हैं । `बलचनमा` उपन्यास के राधा बाबू के प्रति बलचनमा के मनमें `सधाँ ` इसलिए हो जाती है, क्योंकि वह बाद के दिनों में समाजवादी हो जाते हैं । यहां यह उल्लेखनीय है कि बलचनमा के रूप में स्वयं लेखक की `सधाँ ` राधा बाबू के प्रति हो जाती है जिसका कारण उनका समाजवादी होना है ।

स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान गांधीवाद और उसके अनुगामी कांग्रेसियों के चरित्र का उद्घाटन करने के अलावा, नागार्जुन ने तत्कालीन समय में समाजवादियों के प्रभाव और उनके चरित्र का उद्घाटन भी किया है । ध्यातव्य है कि ये समाजवादी कांग्रेस पार्टी से अलग नहीं थे, बल्कि कांग्रेस के अन्दर वामपंथी विचारधारा के बढ़ते हुए प्रभाव की उपज थे । ये कांग्रेस के अन्दर रहते हुए भी अपने चरित्र और अपनी वैचारिक मान्यताओं के स्तर पर गांधीवादी या अभिजात्यवादी कांग्रेसियों से अलग थे । `बलचनमा` उपन्यास का नायक इस तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्य के सम्बन्ध में कहता है कि... कांगरेस के अन्दर ही इन लोगों का एक दल बन गया है । इस दल में बूढ़े लीडर नहीं, सभी जवान हैं ।`[13] यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि कांग्रेस के अन्दर वैचारिक अन्तर्विरोध के कारण 1934 में आचार्य नरेन्द्र देव तथा जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में कांग्रेस समाजवादी पार्टी का गठन हुआ था, जिसकी ओर बलचनमा उपन्यास में संकेत किया गया है । किस उद्देश्यसे इस संगठन का गठन हुआ था और किन अर्थों में ये गांधीवादियों से भिन्न थे, इस सम्बन्ध में बलचनमा कहता है, `अंगरेजी राज न कांगरेस चाहती है, न सोसलिस्ट ही चाहते हैं । लेकिन गांधी महतमा कल-कारखाना के खिलाफ हैं । वह इसके भी खिलाफ हैं कि सेठों-जमींदारों, राजों महराजों से जमीन-जायदाद और धन संपदा छीन कर उसे लोगों में बांट दिया जाए । बूंद भर भी लोहू नहीं बहना चाहिए। ...

गांधी महतमा नोकसान किसी का नहीं चाहते न गरीब का और न अमीर का ।'[14] जबकि सोशलिस्टों का कहना था कि 'दो चार साधू - महतमा के गिड़गिड़ाने से अंगरेजों का दिल नहीं बदलेगा । समूची जनता आपस के भेदभाव भुला कर उठ खड़ी होगी, तो अंगरेज भागेगा । समूची जनता कैसे आपस का भेदभाव भूलेगी, कैसे एक होगी ? लोगों को जब विश्वास हो जायेगा, कि जमींदार महाजन की फाजिल धन-संपदा उन्हीं में बंट जायेगी, रोजी रोटी का सवाल हल होगा, बच्चों की पढ़ाई लिखाई... बुढ़ापे की बेफिक्री... खानपान और रहन-सहन का ठौर ठिकाना... दवा-दारू, पथ-पानी का इंतजाम... यह सब सभी के लिए सुलभ होगा, दरभंगा के महाराज हों पटना के लाट साहब - मुफ्त का खाना किसी को नहीं मिलेगा... सब काम करेगा, सब दाम पावेगा । पैसे के बल पर कोई किसी को बंधुआ गुलाम नहीं बना सकेगा ।'[15] तात्पर्य यह है कि देश की स्वाधीनता दोनों चाहते हैं, लेकिन इसे प्राप्त करने के तरीके और इसके लिए भारतीय जनता में एकता स्थापित करने के तरीके पर दोनों - कांग्रेसी और सोशलिस्ट एक दूसरे से भिन्न मत रखते हैं । स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए जहां कांग्रेसी समझौतावादी और समन्वयवादी रूख अपनाने पर जोर देते हैं, वहीं समाजवादी इस मामले में 'रेडिकल' रुख अपनाते हैं । वे अंग्रेजों और उनके प्रतिनिधियों - पूंजीपतियों और जमींदारों, के खिलाफ क्रांतिकारी संघर्ष के समर्थक हैं । भारतीय जनता में एकता स्थापित करने की पद्धति में भी वे कांग्रेसियों से भिन्न हैं । इस मामले में जहां कांग्रेसी (गांधीवादी) वर्ग अंतराल को पाटे बिना सभी वर्गों में समन्वय की स्थापना की बात करते हैं, वहीं समाजवादी सभी वर्गों में समानता लाने की बात करते हैं और इसके लिए पूंजीपतियों और सामंतों की जमीन, जायदाद को गरीबों में वितरित करना चाहते हैं । जाहिर है कि समाजवादी वर्ग-विषमता की समाप्ति, किसानों मजदूरों का उनका अधिकार दिलाकर करना चाहते हैं । यह अकारण नहीं है कि तत्कालीन समय में किसानों मजदूरों के अधिकार की लड़ाई में समाजवादी बड़ी संख्या में भागीदारी करते हैं ।

नागार्जुन के उपन्यासों का राजनीतिक परिदृश्य जहां स्वाधीनता आन्दोलन की लड़ाई और इससे जुड़े तमाम सन्दर्भों से निर्मित हुआ है, वहीं उनमें तद्युगीन किसान आन्दोलनों की विस्तृत चर्चा भी हुई है । यहां कहना अप्रासंगिक न होगा कि युगीन किसान आन्दोलनों से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होने के कारण उनके यहां इस विषय पर काफी गहरा और गंभीर विमर्श प्रस्तुत हुआ है । किसान आन्दोलन के सन्दर्भ में भी उन की दृष्टि, कांग्रेस विरोधी और वामपंथ समर्थक रही है । वैसे भी यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि भारत के किसान आन्दोलनों में जो महान् भूमिका समाजवादियों और साम्यवादियों की रही है, वह भूमिका किसी अन्य पार्टी की नहीं रही है ।नागार्जुन के उपन्यासों में तद्युगीन किसान आन्दोलनों, खास तौर से बिहार के किसान आन्दोलन के कारणों और उसकी खूबियों - खामियों की विस्तृत चर्चा हुई है ।साथ ही साथ उनके यहां इसके विभिन्न ऐतिहासिक सन्दर्भों की भी चर्चा हुई है। इसलिए, नागार्जुन के यहां चित्रित किसान आन्दोलनों के कारणों और उसके स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है कि किसान आन्दोलन सम्बन्धी विभिन्न ऐतिहासिक पहलुओं की चर्चा की जाए ।

किसान आन्दोलन, भारतीय मुक्ति आन्दोलन का एक अनिवार्य अंग था । और, भारतीय मुक्ति आन्दोलन तत्कालीन पराधीनता के बोध की उपज था । भारतीय जनता की पराधीनता दुहरी थी, इसलिए उसका संघर्ष भी दो मोर्चों पर था - साम्राज्यवाद और सामंतवाद दोनों के खिलाफ । तात्पर्य यह है कि उस समय भारतीय जनता केवल साम्राज्य-वादी पराधीनता से मुक्ति के लिए ही संघर्षरत नहीं थी, वह सामंती तत्वों - जमींदारों, पूंजीपतियों तथा इनके प्रतिनिधियों की पराधीनता से मुक्ति केलिए भी संघर्षरत थी । किसान आन्दोलन संघर्ष की इसी प्रक्रिया का एक हिस्सा था, जो मुख्य रूप से जमींदारों, साहूकारों और अंग्रेजों तथा इनके अत्याचार और शोषण से मुक्ति पाने के लिए संघर्षशील

था । जाहिर है कि इस युग का किसान आन्दोलन तत्कालीन परि-स्थितियों की उपज था, इसलिए इसके कारणों की खोज तत्कालीन परिस्थितियों में होनी चाहिए ।

किसान आन्दोलन का प्रमुख कारण, किसानों पर लगान और माल-गुजारी का बढ़ता हुआ दबाव तथा अपनी ही जमीन से होने वाली बेदखली में निहित है । उल्लेखनीय है कि भारत में अंग्रेजी सत्ता स्थापित होने के बाद किसानों की आर्थिक स्थिति पहले की तुलना में बहुत ज्यादा खराब हुई थी । किसानों की ऐसी स्थिति के लिए अंग्रेजी सत्ता जिम्मेदार थी जिसने एक तरफ तो भारतीय उद्योग धन्धों का नाश करके कृषि पर लोगों की निर्भरता बढ़ा दी, वहीं दूसरी तरफ किसानों से राजस्व की जबर्दस्त उगाही करके उन्हें और अधिक निर्धन बना दिया । किसानों के सामने अब दो ही रास्ते बचे थे । पहला रास्ता जहां यह था कि कृषि को छोड़कर बेगारी की जाए, वहीं दूसरा रास्ता यह था कि कृषि में बने के लिए ऋण लिया जाए । भारतीय किसानों की इस दशा का वर्णन `बलचनमा` और `गोदान` दोनों उपन्यासों में बहुत मार्मिकता के साथ किया गया है । अंग्रेजी राज्य की नीतियों से उपजी भारतीय किसान की निर्धनता के कारण जहां `बलचनमा`, `बेगारी` का रास्ता चुनता है, वहीं `होरी` कृषि से जुड़े रहने के लिए(`मरजाद` की रक्षा के लिए) दूसरा रास्ता चुनता है अर्थात् ऋण लेता है । यहां उल्लेखनीय है कि अंग्रेजों की शोषण युक्त आर्थिक नीतियों के परिणाम स्वरूप इसी समय `महाजनी` सभ्यता भी पैदा हुई । भारतीय किसान अपनी ऋण की प्राप्ति इन्हीं महाजनों से करते थे और ये महाजन अपने ऋण की पूर्ति बेइन्तहा शोषण के द्वारा करते थे । कुल मिलाकर अंग्रेजी शासन में किसान, जमींदार, साहूकार, पुलिस प्रशासन, पंडे पुरोहित आदि तत्वों के अत्याचार और शोषण के शिकार थे ।

अंग्रेजी राज्य के आरंभिक दिनों में किसानों ने अपने शोषण और अत्याचार के खिलाफ छिटपुट विद्रोह करना शुरू कर दिया था । पबना, दक्कन, सन्यासी, सतवंती आदि विद्रोह किसानों के आरंभिक विद्रोह थे । लेकिन इनमें अखिल भारतीय स्वरूप का अभाव था, इनका आधार क्षेत्रीय था और इन्हें व्यापक जनसमर्थन भी नहीं प्राप्त था । तात्पर्य यह है कि इन विद्रोहों का स्वरूप इस लायक नहीं था कि इन्हें किसान आन्दोलन की संज्ञा दी जा सके । यह जरूर है कि इन छिटपुट विद्रोहों ने बाद के दिनों में उभरे किसान आन्दोलनों की पृष्ठभूमि का काम किया था ।

इसी पृष्ठभूमि पर किसान आन्दोलनों को एक नई दिशा मिली, 20वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में । इस समय किसानों में विदेशी शासकों और देशी शोषकों के चंगुल से मुक्त होने की प्रखर चेतना उत्पन्न हो गई थी । इस चेतना के विकास के परिणामस्वरूप किसानों में संगठन बनाने और सामूहिक रूप से अपने अधिकारों के लिए संघर्ष के प्रति गहरी जागरूकता उत्पन्न हो गयी । यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि किसान संगठनों और इसके नेताओं ने भी किसानों को आन्दोलित होने के लिए प्रेरित किया । इस सम्बन्ध में 1918 में गठित `उ0 प्र0 किसान सभा` का नाम विशेष उल्लेखनीय हैजिसने 1920 के आसपास बाबा रामचन्द्र के नेतृत्व में अवध और इसके आसपास के इलाकों में बड़े पैमाने पर किसानों को जागरूक बनाया और उन्हें आन्दोलन के लिए प्रेरित किया । ध्यातव्य है कि इस आन्दोलन से जुड़ने वाले लोगों में जवाहर लाल नेहरू और पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे कांग्रेसी नेता भी थे । उ0 प्र0 (संयुक्त प्रान्त) किसान सभा के अलावा 1928 में गठित रैयत सभा (आंध्र) और 1929 में स्वामी सहजानन्द सरस्वती के नेतृत्व में गठित `बिहार किसान सभा` ने भी अपने अपने क्षेत्र में किसानों में जागरूकता लाने और उन्हें आन्दोलित होने के लिए प्रेरित किया । लेकिन कुल मिलाकर

किसान आन्दोलन का स्वरूप अब भी क्षेत्रीय बना हुआ था जिसे अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करने की आवश्यकता महसूस की जा रही थी। किसान आन्दोलन की इस आवश्यकता को पूरा किया, 1936 में गठित 'अखिल भारतीय किसान सभा' जैसे संगठन ने। यह अखिल भारतीय स्तर का पहला किसान संगठन था, जिसे प्रथम अध्यक्ष और महासचिव के रूप में क्रमशः स्वामी सहजानन्द सरस्वती और एन. जी. रंगा जैसे प्रख्यात जुझारू किसान नेता प्राप्त हुए थे। यहां यह कहना गलत न होगा कि स्वामी सहजानन्द सरस्वती के नेतृत्व के कारण और किसानों को 'अखिल भारतीय किसान सभा' जैसा मंच प्राप्त होने के कारण इन दिनों किसान आन्दोलन अपने चरम बिन्दु पर पहुंच गया था। इन्हीं दिनों, नागार्जुन श्रीलंका के 'विद्यालंकार परिवेण' में रहते हुए स्वामी सहजानन्द से प्रभावित हुए थे। उन्हीं के कहने पर बौद्ध भिक्षु नागार्जुन तत्कालीन समय के किसान आन्दोलन से जुड़े। इन दिनों इन्होंने बिहार में चलने वाले किसान आन्दोलन में भाग लिया जहां पहले से ही स्वामी सहजानन्द, राहुल सांकृत्यायन, कार्यानंद शर्मा और यदुनन्दन शर्मा जैसे प्रख्यात किसान नेता मौजूद थे। किसान आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी करने के कारण उन्हें जेल यात्राएं करनी पड़ीं। किसान जीवन और किसान आन्दोलन से सक्रिय रूप में जुड़े होने के कारण ही नागार्जुन के उपन्यासों में किसान जीवन और किसान आन्दोलन की व्यापक अभिव्यक्ति हुई है।

नागार्जुन के 'बलचनमा', 'रतिनाथ की चाची' और 'वरुण के बेटे' उपन्यासों में बिहार के किसान आन्दोलन तथा किसान जीवन से जुड़े विभिन्न सन्दर्भों का विस्तृत चित्रण हुआ है। उनके पहले दो उपन्यासों में, जहां सन् 1935 के आसपास और उसके बाद के किसान आन्दोलन और उससे जुड़े विभिन्न सन्दर्भों की अभिव्यक्ति दी गई है, वहीं तीसरे उपन्यास में आजादी के बाद के किसान आन्दोलन को।

`बलचनमा` में बिहार किसान आन्दोलन के विभिन्न मुद्दों, उस से जुड़े संघर्ष तथा संघर्ष में शामिल लोगों और पार्टियों के गुण-दोषों की व्यापक चर्चा हुई है । यहां किसान आन्दोलन के प्रमुख मुद्दे हैं : `जमींदारी उन्मूलन, गैर कानूनी वसूलियों और काश्तकारों की बेदखली का अंत और बकाश्त जमीन की वापसी` । उल्लेखनीय है कि `1935 में ही `बिहार किसान सभा`, जमींदारी उन्मूलन का प्रस्ताव पास कर चुकी थी ।`[16] `बलचनमा` में किसानों के संघर्ष का नारा है - `कमानेवाला खायेगा... इसके चलते जो कुछ हो`,[17] `जिसका हर-फार उसकी धरती । जिसका हुनर और जिसका हाथ उसी का कल कारखाना ।`[18] आशय यह है कि मेहनत करने वालों को मालिकाना हक भी प्राप्त होना चाहिए । यह कितनी विडंबनापूर्ण बात है कि जिस जमीन पर किसान `हर-फार` चलाता है, यानी जी तोड़ परिश्रम करना हो, उसका मालिकाना हक किसी और के पास हो । नागार्जुन ने इसी लिए अपने उपन्यासों में जमींदारी प्रथा का विरोध किया है । उनके यहां किसान, जहां जमींदारी उन्मूलन की बात करते हैं, वहीं बेदखली का अंत करने के लिए भी संघर्ष करते हैं । इस प्रक्रिया में वे निश्चय करते हैं कि `लाश गिरे तो गिरे, मगर अपने खेत दूसरों की दखल में नहीं जाने देंगे ।`[19] इसके अलावा उनके किसान बकाश्त जमीन की वापसी के लिए भी संघर्ष करतेहैं । `बकाश्त जमीन से आशय उस जमीन से है, जो जमींदारों ने 1929-30 के मंदी में लगान न चुका पाने के कारण किसानों से प्राप्त करली थी । बकाश्त करते समय भी जमींदारों ने बहुत चालाकी से काम लिया था, इसका एक उदाहरण बलचनमा के इस कथन में मौजूद है : `सर्वे केबखत मालिक के परदादे ने और बल्ली बाबू के दादा ने किसानों की जोत के हजारों बीघा जमीन को बकाश्त के तौर पर दर्ज करा लिया था । समझदार किसान दस पांच ही थे, जिनका काश्तकारी हक सर्वे में कायम था । आम किसान लगान देते आये थे, लेकिन रसीद लेने की जरूरत उन्होंने नहीं समझी ।`[20] ऐसी धाँधली करना तो जमींदारों के लिए आम बात थी उन दिनों ।

किसान सभा जैसे संगठन, कांग्रेस से अलग बनाए गये थे । इसका कारण यह था कि किसान नेताओं का कांग्रेस से मोह भंग हो गया था जिसके पीछे कारण यह था कि कांग्रेस जमींदारों और ताल्लुकेदारों के खिलाफ क्रांतिकारी संघर्ष की विरोधी थी । वह इन तत्वों का विरोध सिर्फ लगान न देने अथवा कम देने जैसे सीमित दायरे में करती थी । किसान आन्दोलनों के प्रति कांग्रेस का रवैया जहां उदासीनता अथवा उसका विरोधी था, वहीं सोशलिस्टों का रवैया आन्दोलन समर्थक था । 1936 के बाद तो सोशलिस्ट कार्यकर्ताओं ने किसान आन्दोलनों में बढ़ चढ़कर हिस्सा लिया था । बलचनमा इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए कहता है -'उन दिनों सोसलिस्टों में बड़ी गर्मी थी भैया । वे जो कुछ कहते, उसे करने की जो कोशिश भी उनकी ओर से होती थी । मजूरों की हड़ताल हो, चाहे किसानों का आन्दोलन, सोसलिस्ट भाई उसमें बढ़कर हिस्सा लेते थे ।'[21] स्वयं कांग्रेस के भीतर वामपंथी विचारों के लोगों की कमी न थी, ये वाम-पंथी कांग्रेसी भी किसानों के हितों की बात करते थे । जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस ऐसे ही वामपंथी विचारों वाले कांग्रेसी थे, जो किसान आन्दोलनों को अपना समर्थन देते थे और उनमें भागीदारी करते थे । कांग्रेस में वामपंथी विचारधारा के लोगों की उपस्थिति के कारण किसानों और मजदूरों को इस पार्टी से बहुत आशाएं थीं । यही कारण है कि 1935 के अधिनियम के तहत जब कांग्रेस ने प्रांतों में सरकार में आने का फैसला किया तो इससे जनता बहुत प्रसन्न हुई थी । नागार्जुन ने 'रतिनाथ की चाची' में लिखा है -'बार बार आगा-पीछा सोच कर कांग्रेस ने जब प्रान्तों के शासन में हाथ बंटाना स्वीकार कर लिया तो जनता ने युग की और नई आशा से देखा ।'[22] 'बलचनमा' उपन्यास में किसानों की आशा इस प्रकार व्यक्त होती है कि 'अगले साल कांगरेस लोग मिनिस्टर बन जाएंगे, अंगरेजों की अमलदारी उठ जायेगी और जमींदारी भी नहीं रहने पायेगी ।'[23] इस समय कांग्रेस में सोशलिस्टों और वामपंथियों का इतना व्यापक प्रभाव था कि जमींदारों ने कांग्रेस का विरोध करना

शुरू कर दिया । उनको लगने लगा कि उनका हित अब कांग्रेस के साथ सुरक्षित नहीं है, इसलिए उन्होंने 1937 के चुनाव में कांग्रेस का विरोध करने का फैसला लिया था । उनके विरोध के बावजूद उस चुनाव में कांग्रेस को भारी सफलता मिली और उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा । बिपिन चन्द्र ने लिखा है -'1937 के चुनाव में बहुत से जमींदार या उनके समर्थक उम्मीदवार कांग्रेस उम्मीदवारों से पराजित हो गये । इससे जमींदारों की प्रतिष्ठा को धक्का लगा और काश्तकारों में आत्मविश्वास पैदा हो गया ।'[24] जमींदारों की इस पराजय और इससे उत्पन्न हुई नयी स्थिति के सम्बन्ध में नागार्जुन लिखते हैं -'जमींदार चुनाव में हार कर अपने अंधकार मय भविष्य की कल्पना करते हुए कछुए की भांति दुबक पड़े थे ।'[25] उन्होंने अपनी हार से बौखला कर यह सोच लिया कि कांग्रेस सरकार जमींदारी उन्मूलन कर सकती है, इसलिए उन्होंने कांग्रेस मंत्रियों को ऐसा न करने के लिए धमकाना शुरू कर दिया -'आपका खादी कुर्ता पहले हम अपने खून से तर कर देंगे, उसके बाद जाकर जमींदारी प्रथा उठा दीजिए ।'[26] फिर क्या । इस मामले में 'मंत्रियों ने पीठ कर दी थी किसानों की ओर और मुंह कर दिया जमींदारों की ओर ।'[27] तात्पर्य यह कि बिहार की कांग्रेस सरकार जमींदारों के पक्ष में हो गई और इस कारण से ~~'दुनिया भर में बदनामी फैल गई कि बिहार की कांग्रेस सरकार जमींदारों के पक्ष में हो गई और इस कारण से~~ 'दुनिया भर में बदनामी फैल गई कि बिहार की कांग्रेस पर जमींदारों का असर है । जवाहरलाल तक ने यह बात खुल्लमखुल्ला कही ।'[28]

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि 1937 के चुनाव में भारी सफलता अर्जित करने के बाद बिहार सहित जिन राज्यों में कांग्रेस सरकार का गठन हुआ था, वहां की जनता को इस सरकार के आने से बहुत फायदे हुए थे । चुनाव में कांग्रेस ने जो वादे किए थे, उन्हें एक हद तक पूरा भी किया

गया । अपने अल्प शासन काल में ही सरकार ने किसानों-मजदूरों के हित में कई महत्वपूर्ण फैसले लिए थे । इस दिशा में किए गए उल्लेखनीय फैसलों में महत्वपूर्ण था संयुक्त प्रांत और बिहार में काश्तकारी बिल का पारित होना जिससे किसानों को काफी राहत मिली थी । कुल मिलाकर कृषि-सुधार से संबंधित कुछ बातों को भी लागू किया गया था लेकिन कृषि के परंपरागत ढांचे में कोई परिवर्तन करने में यह सरकार सफल नहीं हो सकी । इसका एक प्रमाण यह है कि सरकार जमींदारी उन्मूलन के बारे में कुछ भी करने में असमर्थ रही । इस समय जमींदारी उन्मूलन नहीं करने के पीछे कुछ संवैधानिक और व्यावहारिक कठिनाईयां थीं इस लिए तत्कालीन समय में जमींदारी उन्मूलन न करने की जिम्मेदारी कांग्रेस सरकार के मत्थे मढ़ना ठीक नहीं है । उन दिनों कांग्रेस सरकार ऐसा करने में असमर्थ सिद्ध हुई, इसके कारण के बारेमें बिपिन चन्द्र लिखते हैं -'इसके दो कारण थे । 1935 के अधिनियम के मुताबिक प्रांतीय विधायिकाओं के पास ऐसा करने के लिए पर्याप्त अधिकार नहीं थे । इस काम के लिए उनके वित्तीय संसाधनों का घोर अभाव था, क्योंकि भारतीय राजस्व के अधिकांश हिस्से का उपयोग भारत सरकार(केन्द्रीय) करती थी । कांग्रेसी मंत्रिमण्डल मौजूदा प्रशासनिक ढांचे को हाथ भी नहीं लगा सकता था क्योंकि ऐसा करने का अधिकार वायसराय तथा गवर्नरों को ही प्राप्त था ।[29] यह संवैधानिक कठिनाई था ।लेकिन कांग्रेस के सामने व्यावहारिक कठिनाई भी थी, जिसके बारे में डा० चन्द्रलिखते हैं -'इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि विभिन्न वर्गों के बीच तालमेल बैठाने की रणनीति के तहत भी ऐसा करना पड़ा था । अनेक वर्गों को साथ लेकर चलाया जानेवाला आन्दोलन तभी आगेबढ़ सकता था, जब आपस में टकराने वाले हितों के बीच संतुलन कायम रखा जा सके । उपनिवेशवाद के खिलाफ जो सब का शत्रु था, भारतीय जन को एकजुट करने के लिए इस प्रकार का तालमेल जरूरी था ।'[30] कांग्रेस जिस दूसरी कठिनाई का सामना कर रही थी, वह उसकी चरित्रगत कमजोरी थी, जिसकी वजह से वह जमींदारों के खिलाफ किसी

भी तरह के क्रांतिकारी संघर्ष का विरोध करती थी । लेकिन, इस समय के किसान नेताओं और समाजवादियों ने जिस तरह से छोटे किसानों को जागरूक बनाने उन्हें अपने अधिकारों की लड़ाई के लिए संगठित करने का काम किया, उससे जमींदारों, ताल्लुकेदारों और किसानों के बीच संघर्ष होना निश्चित हो गया था ।

नागार्जुन के उपन्यासों में तत्कालीन समय की जमींदारों की चालाकियां, उनकी शोषण की प्रवृत्ति, अत्याचार और इसके फलस्वरूप किसानों में उपजी संघर्ष चेतना की चर्चा विस्तार से की गई है । किसान मजदूर बहुत पहले से ही शोषित रहे हैं, लेकिन स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान उन्हें पहली बार इस बात का एहसास होता है कि वे दोहरे शोषण के शिकार हैं । किसानों में जब जागरूकता पैदा हुई तो उन्हें यह महसूस हुआ कि वे सिर्फ अंग्रेजों के गुलाम नहीं हैं, बल्कि वे उन देशी लोगों के भी गुलाम हैं, जो रंग ढंग से भारतीय होकर भी चरित्र से अंग्रेज़ हैं । किसानों के इस पराधीनता बोध ने उन्हें यह सोचने पर विवश किया । उनके संघर्ष का वास्तविक मोर्चा कौन सा है । `बलचनमा` कहता है -`उस वक्त मेरे मन में यह बात बैठ गई कि जैसे अंगरेज बहादुर से सोराज लेने केलिए बाबू भैया लोग एक हो रहे हैं, हल्ला-गुल्ला और झगड़ा-झंझट मचा रहे हैं, उसी तरह जन बनिहार, कुली-मजूर और बहिया खवास लोगों को अपने हक के लिए बाबू भैया से लड़ना पड़ेगा ।`[31] तात्पर्य यह कि उन दिनों किसानों मजदूरों के मन में यह चेतना विकसित होने लगी थी कि अपने हितों की रक्षा के लिए उन्हें ही कुछ करना पड़ेगा । उल्लेखनीय है कि ऐसी चेतना के विकास में किसान नेताओं और सोशलिस्ट कार्यकर्ताओं की महत्वपूर्ण भूमिका थी ।

अधिकारों के प्रति सचेत होने के कारण ही `बलचनमा` में किसान नारा देते हैं कि `कमानेवाला खायेगा, इसके चलते जो कुछ हो ।`[32] वे जमींदारों की कारगुजारियों को चुपचाप नहीं बर्दाश्त कर लेते हैं, बल्कि उनके खिलाफ विद्रोह का बिगुल बजा देते हैं । `बलचनमा` उपन्यास में

जब जमींदार साबुल्लाखां जमींदारी प्रथा के खत्म होने के डर से 'एक की जोत का खेत दूसरे के नाम बन्दोबस्त'[33] करते हैं, तब उस स्थिति में महपुरा के किसान हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रहते । वे प्रत्येक स्तर से इस क्रूर जमींदार के खिलाफ संघर्ष करते हैं । संघर्ष की प्रक्रिया मे उन्हें कई स्थानों पर निराश भी होना पड़ता है, लेकिन इस निराशा की वजह से वे टूटते नहीं हैं, बल्कि पहले की तुलना में और अधिक संगठित होकर जुझारूपन के साथ संघर्ष करते हैं । जमींदार साबुल्लाखां के इस अन्याय के खिलाफ डा० रहमान जैसा कांग्रेसी किसान जब कांग्रेसी लीडरों से सहायता की अपील करता है तो 'महात्मा जी के चेला लोग उलटे रहमान साहब को ही शांति और संतोष का शर्बत'[34] पिलाने लगते हैं । डा० रहमान को कांग्रेसियों के इस रवैया से थोड़ी निराशा होती है परन्तु इससे किसानों का संघर्ष थम नहीं जाता है, बल्कि उलटे किसान संगठित होकर और अधिक उत्साह के साथ संघर्ष के लिए तैयार होते हैं । डा० रहमान के नेतृत्व में 'रैयत लोगों ने तय कर लिया कि लाश गिरे तो गिरे, मगर अपने खेत दूसरों को दखल नहीं होने देंगे ।'[35] 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में भी 'शुभंकर पुर' के किसान, जमींदार दुर्गानन्दन सिंह के खिलाफ संघर्ष से नहीं डरते हैं। यह अलग बात है कि यहां कुछ लालची किस्म के किसान और किसान नेता भी हैं जो अपने निहित स्वार्थ के लिए किसान आन्दोलन को 'चौपट' कर देते हैं । लेकिन ताराचरण के नेतृत्व में यहां के किसान जमींदारोंकी दासता नहीं स्वीकार करतेहैं, वे उन्हें चुनौती देते हैं । ताराचरण दुर्गानन्दन सिंह के प्रभुत्व पर चोट करतेहुए कहता है - 'जमाना बदल गया है । हम जब अंग्रेजों की नाक में कौडी बांधते हैं तो राजा बहादुर की क्या बिसात ?'[36] तात्पर्य यह है कि किसानों में अपने अधिकारों की रक्षा के प्रति जो चेतना उत्पन्न हुई थी, उसके कारण वे जमींदारों के शोषण औरउसकेवर्चस्वका संगठित विरोध करते हैं ।

किसानों में आई जागरूकता का परिणाम हुआ कि वे जिला, थाना,

गांव आदि स्तरों पर संगठित होने लगे । वे किसान सभा के मेम्बर बहुत उत्साह से बनते और बनाते भी । इस प्रक्रिया में किसान छोटी-छोटी बैठकें करते । घर-घर जाकर अनाज, नकद आदि चंदा के रूप में वसूली करते ।संगठन के इस उत्साहपूर्ण कार्य की तस्वीर `रतिनाथ की चाची` में इस प्रकार प्रस्तुत हुई है - `बलुआहा पोखर के भिंड पर किसान कुटी बन गई । घर घर से मुठिया वसूल होने लगा । किसान कुटी के लिए किसी ने लोटा दिया, किसी ने थाली दी । कुम्हार ने घड़े दिए... उमानाथ की मां ने अपना दो साल पुराना कंबल दे दिया ।रतिनाथ ने मना किया तो बोली,`यह दस का काम है । देश का काम है। गरीबों का यज्ञ है ।`[37] लोगों में सदस्यता लेने के प्रति कितना उत्साह था, इसका उदाहरण बलचनमा का यह कथन है -`अपने टोले मुहल्ले में मैंने दस आदमियों को मेम्बर बनाया । योसम्भात कुंती ने सुना तो खुद आकर इकन्नी दे गई ... । मनियार चाचा से लेकर शैख अब्दुल तक, ताराबाबू से लेकर शैख अब्दुल तक तारानंद बाबू से लेकर तीरी अमान तक और फूल्ल मिसिर की विधवा से लेकर मोमिन मोस्सवात हमीदा तक... सब ने मेम्बरी की रसीद ली और एक-एक आना दिया ।`[38] चूंकि जमींदारों से लड़ना, संपूर्ण तंत्र से लड़ने के बराबर था - जिसमें अंग्रेज, पुलिस-प्रशासन, पंडित पुरोहित सभी शामिल थे, इसलिए किसानों को संगठित करना तथा उन्हें संघर्ष के लिए प्रशिक्षित करना अनिवार्य था । ऐसे में किसानों को संबोधित करने के लिए सभाएं की जाती थीं । इन सभाओं में स्थानीय प्रान्तीय और राष्ट्रीय स्तर के नेता भागलेते थे और इनमें किसानों के हितों से जुड़े प्रस्ताव पारित किए जाते थे । `बलचनमा` उपन्यास में महपुरा के किसानों को संबोधित करने के लिए, डा० रहमान जैसे स्थानीय नेताओं के अलावा, स्वामी जी (सहजानन्द सरस्वती) शर्मा जी और मिसिर जी और राधाबाबू जैसे प्रांतीय और राष्ट्रीय नेता भी आते हैं ।

ये नेता मुख्य रूप से, किसानों में संगठन और आत्म बल के विकास, जमींदार और उसके समर्थकों के षडयन्त्रों का पर्दाफाश तथा आपसी एकता की भावना पर अपना भाषण केन्द्रित करते हैं । स्वामी जी जमींदारों के बारे में कहते हैं -`वे हैं कितने, दाल में नमक के बराबर । ये अपने बल पर नहीं, सरकारी अफिसरों के बल पर ही जुल्म करते हैं ।`[39] पर विडम्बना यह है कि संख्या में कम होकर भी ये लोग किसानों के मालिक बन बैठे हैं । स्वामी जी कांग्रेसी नेताओं व जमींदारों से उनके मधुर सम्बन्धों की चर्चा करते हैं और किसानों सेऐसे नेताओं के प्रति सावधान रहने के लिए कहते हैं । वे इस बात पर जोर देते हैं कि किसानों को स्वयं अपने वर्ग से नेतृत्व पैदा करना चाहिए । जमींदारों के जुल्म का जवाब देने के लिए वे किसानों को सलाह देते हैं `आप सिर्फ तीन काम कीजिए - संगठित होकर एक हो जाइए, जान जाएं तो जाए मगर जमीन नहीं छोड़िए और अकालत कचहरी के इर्द-गिर्द कभी मत जाइए ।`[40] इस व्यापक जागरण का फल है कि `बलचनमा`,`रतिनाथ की चाची`, और `वरुण के बेटे` के किसान जमींदारों के कड़े प्रतिरोध के बावजूद अपने हक की लड़ाई लड़ते हैं ।

जमींदार उस समय किसानों में आये उभार से बौखला उठे थे । उन्होंने किसान आन्दोलनों को दबाने के लिए, बल्कि कुचल देने के लिए छल और बल दोनों का सहारा लेना शुरू कर दिया ।`बलचनमा` के सादुल्ला खां हों, रतिनाथ की चाची के `दुर्गानन्दन सिंह` अथवा`वरुण के बेटे ` में सतधरा वाले - ये सभी किसान आन्दोलन को कुचलने के लिए कहीं शक्ति का प्रयोग करते हैं तो कहीं अपनी बुद्धि का ।

महपुरा का जमींदार जहां एक ओर किसान सभा में अपने आदमियों को भेज कर, उसे बाधित करता है, वहीं दूसरी ओर किसानों को कोर्ट-कचहरी और अपने लठैतों का भय दिखाकर उन्हें आन्दोलन करने से रोकना चाहता है । स्वयं बलचनमा को किसान आन्दोलन में भाग लेने के लिए,

उसकी मलिकाइन से धमकी मिलती है -`बलवनमा अपनी हरकतों से बाज नहीं आया तो घरफूंकवा डूंगी ।`[41] `वरुण के बेटे` में सतघटा के नये जमींदार `मटुआ संघ` वालों को पुलिस प्रशासन का भय दिखाकर उन्हें आन्दोलित होने से रोकना चाहते हैं । जमींदार किसान आन्दोलन को दबाने के लिए सिर्फ शक्ति से ही काम नहीं लेते हैं । वे किसानों में फूट डालकर उनके बीच के कुछ स्वार्थी तत्वों को अपने साथ मिला कर किसान आन्दोलन को कमजोर करते हैं। `रतिनाथ की चाची` में जमींदारों की इस चाल और उसके कारण किसान आन्दोलन में आने वाली कमजोरी की विस्तार से चर्चा की गई है । नागार्जुन ने दिखाया है कि कुछ किसानों के अलावा एक किसान नेता को लालच देकर किस तरह दुर्गानन्द सिंह किसान आन्दोलन को कमजोर करतेहैं । किसान आन्दोलन का वह नेता जो दुर्गानन्द सिंह के हाथ बिकता है, उसके सम्बन्ध में नागार्जुन लिखते हैं, `जिला किसान सभा के एक प्रमुख नेता रमापति झा परसौनी के रहने वाले थे, तीन साल तक एड़ी चोटी कापसीना एक करके उन्होंने राजा बहादुर के रैयतों को जगाया था । और अब उनके भी मुंह से लार टपकने लगी ।`[42] इस उपन्यास में और भी ऐसे लोगों का चित्रण हुआ है जो अवसरवादी हैं और जिनके कारण किसान आन्दोलन कमजोर होता है । `वरुण के बेटे` का गंगा साहनी इन्हीं अवसरवादी नेताओं का प्रतिनिधि है, जो लालच में आकर सतधरा वाले जमींदारों के साथ जा मिलता है ।

`वरुण के बेटे ` उपन्यास का किसान आन्दोलन स्वतंत्रता बाद का किसान आन्दोलन है, इसलिए इसकी स्थितिउपर्युक्त आन्दोलनों से थोड़ी भिन्न है । ध्यातव्य है कि आजादी के बाद, 1951 में जमींदारी उन्मूलन कानून पास कर दिया गया था । इसलिए यहां जो किसानों का आन्दोलन उभरता है, वह जमींदारी प्रथा के खिलाफ नहीं, बल्कि जमींदारों के खिलाफ है । यहां स्पष्ट करना आवश्यक है कि जमींदारी-

उन्मूलन कार्यक्रम की कमियों का लाभ उठाकर बिहार में और अन्य जगहों पर भी, कानूनी तौर पर जमींदारी उन्मूलन के बाद भी जमींदार बने रहे । जमींदारी उन्मूलन कानून की कमियों के बारे में नागार्जुन लिखते हैं - 'व्यक्तिगत जोत की जमीन, बाग-बगीचे, कुआं चभच्चा और पोखर, देवी-देवता के नाम चढ़ी हुई जायदाद, चरागाह, परती-परात, नदियों के पाट और तटवर्ती भूमि जैसी कुछ एक अचल संपत्तियों के मामले में जमींदारी उन्मूलन कानून ने भूस्वामियों को खुली छूट दे दी । नतीजा यह हुआ कि पोखरों और चरागाहों तक को वे चुपके-चुपके बेचने लगे - 'आग लगते झोंपड़ी से जो निकले सो लाभ ।'[43] कानून की इस कमी का फायदा उठाते हुए देपुरा के जमींदार गढ़ पोखर को सतधरा वाले जमींदारों के हाथों बेंच देते हैं । यह बात मलाही गोढ़ियारी के मछुआरों के लिए असह्य हो जाती है, इसका कारण पेट था कि वे इस गढ़ पोखर पर अपना पुश्तैनी हक समझते आ रहे थे और इस गढ़ पोखर के सतधरा वालों के हाथोंचले जाने से उनका इस पर से पुश्तैनी हक उठ जाता । मछुए मोहन मांझीके नेतृत्व में संघर्ष के लिए तैयार हो उठते हैं । गोनड़ कहता है - 'यह पानी सदा से हमारा रहा है, किसी भी हालत में हम इसे छोड़ नहीं सकते । पानी और माटी न कभी बिके हैं, न कभी बिकेंगे । गरोबर (गढ़ पोखर) का पानी मामूली पानी नहीं, वह तो हमारे शरीर का लहू है । जिनगी का निचोड़ है ।'[44] मछुओं के इस दृढ़े संकल्प के कारण जमींदारों की कुछ खास नहीं चल पाती है ।

यहां कम्युनिस्ट नेता मोहन मांझी के नेतृत्व में चले वाला किसान आन्दोलन (मछुआ का आन्दोलन) इसलिए भिन्न है कि यहां आकर किसान आन्दोलन को एक व्यापक जनाधार मिलता है । अब यह 'संगठन' देहातों में रहने वाले कुछ मेहनत कश लोगों का एकमात्र मिला-जुला सुदृढ़ संगठन बन

जाता है जिसमें भूमिहीन मछुवे भी भागीदारी करते हैं । मोहन मांझी किसानों-मजदूरों की एकता के लिए जाति-आधारित संगठनों की निन्दा करता हैऔर कहता है कि 'मैथिल महासभा राजपूत महासभा, यादव महासभा, कुशवाह महासभा आदि जो भी साम्प्रदायिक संगठन हैं, सभी का बायकाट होना चाहिए ।'[45] यह मोहन मांझी का प्रगतिशील दृष्टिकोण है जिसके कारण वह जातिवादी संगठनों की निन्दा करता है और उसकेस्थान पर वर्ग आधारित संगठन बनाने की बात करता है ।

मोहन मांझी के नेतृत्व में यहां भी उत्साह के साथ किसान सम्मेलन होता है, यहां स्थानीय और राष्ट्रीय नेता आते हैं, किसान सभा की सदस्यता बढ़ाई जाती है । लेकिन, यहां किसान आन्दोलन के साथ महिलाएं भी जुड़ जाती हैं, जैसा कि 'कलंकमा' और 'रतिनाथ की चाची' उपन्यासों के किसान आन्दोलनों में नहीं दिखाई देता है । यहां किसान सम्मेलन में 'औरतों में किसान सभा के उद्देश्यों का कर्तव्यों का प्रचार करने के लिए, साथ ही कान्फ्रेंस के लिए अनाज और नकद रकम उगाहने के लिए, तीन महिला किसान सेविकाएं आई हुई थीं ।'[46] इसके अलावा, इस आन्दोलन में मधुरी की भूमिका आश्चर्यचकित कर देनेवाली है । वह इस आन्दोलन में इतनी सक्रिय हिस्सेदारी करती है कि इस संदर्भ में वह अपने पुरुष साथियों को भी पीछे छोड़ देती है । वह संघर्ष करते हुए गिरफ्तार होने के लिए स्वयं को सबसे आगे कर देती हैऔर यही नहीं, गिरफ्तार होकर जाते तथा आगे बढ़कर जोरदार आवाज में नारा लगाती है -'महुआ संघ जिन्दाबाद, हक की लड़ाई जीतेंगे, जीतेंगे ।'[47] इस संघर्ष में मधुरी की सक्रिय भागीदारी को देख कर सामंती मानसिकता वाले अधिकारी स्वाभाविक रूप से चिढ़ जाते हैं क्योंकि किसान आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी, उनके लिए भारतीय राजनीति में महिलाओं के बढ़ते प्रभाव का द्योतक लगती है ।

इस उपन्यास में किसान आन्दोलन की परिणति भी बलचनमा की तुलना में अधिक मार्मिक लगती है । इसका कारण यह है कि `बलचनमा` में जमींदारों और किसानों के बीच जो संघर्ष होता है, उसमें किसानों की पराजय होती है । महथुरा के संघर्ष में जहां किसान, जमींदार और उसके आदमियों द्वारा भयंकर रूप से प्रताड़ित किए जाते हैं, वहीं बलचनमा भी जमींदार के लठैतों द्वारा मार खाकर बेहोश हो जाता है । उपन्यास के अंत में, बलचनमा का बेहोश होकर जमीन पर लुढ़क जाना किसानों के लिए और किसान आन्दोलन के लिए कोई सन्देश नहीं छोड़ पाता । स्वयं लेखक के अवचेतन में यह बात है कि उसके `आदर्श पात्र` की यह परिणति बहुत मार्मिक नहीं है, इसलिए उसके स्वप्न में `अक्सर बलचनमा उपस्थित हो जाता है और शिकायत भरे लहजे में कहता है -`मुझको पिटवाकर कहां डाल रखा है ? बेदर्दी, निर्मोही कहीं के । शरम नहीं आती एक पोथी को अधूरी छोड़ के अंट-शंट लिखे जा रहे हो ।`[48] तात्पर्य यह कि `बलचनमा` की यह परिणति जो कोई सन्देश नहीं छोड़ पाती है, स्वयं लेखक को भी अधूरी लगती है । यही कारण है कि नागार्जुन निश्चय करते हैं कि `जो मेरा आदर्श पात्र है, उसका दूसरा खण्ड लिखूंगा ।`[49] यह अलग बात है कि किन्हीं कारणों से `बलचनमा` का दूसरा खण्ड नहीं लिखा जा सका । इस दृष्टि से `वरुण के बेटे ` उपन्यास के किसान आन्दोलन की परिणति किसानों के लिए सन्देश छोड़ने में एक हद तक सफल हुई है । जमींदारों के साथ संघर्ष करते हुए अन्ततः महुआ संघ के सदस्यों को गिरफ्तार हो जाने पर भी, उनका उत्साह और मधुरी का यह नारा - `महुआ संघ जिन्दाबाद - हक की लड़ाई... जीतेंगे ।... जीतेंगे ।... गढ़पोसर हमारा है, हमारा ।`[50] उपन्यास के अन्त में गहरा प्रभाव छोड़ जाता है ।

किसान आन्दोलन की तरह मजदूर आन्दोलन भी हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का एक हिस्सा रहा है । परन्तु नागार्जुन के यहां मजदूर आंदोलन

की वैसी मुखर प्रतिध्वनि नहीं मौजूद है, जैसी किसान आन्दोलन की । इसका प्रमुख कारण यह है कि किसान-आन्दोलन से उनका जितना गहरा सम्बन्ध रहा है, उतना मजदूर आन्दोलन से नहीं । परन्तु अपने युगीन मजदूर आन्दोलनों को उन्होंने एक वामपंथी कथाकार की हैसियत से न सिर्फ देखा है, बल्कि उसे अपने उपन्यासों में चित्रित भी किया है । यहां, उल्लेखनीय है कि नागार्जुन का वर्तमान, खास तौर से 1937 के बाद का समय औद्योगिक मजदूर आन्दोलनों के उभार का समय था । इस लिए लेखक का इन मजदूर आन्दोलनों से प्रभावित होना स्वाभाविक था । उनके `इमरतिया`, `दुखमोचन` और `हीरक जयंती` जैसे उपन्यासों में जो मजदूर आन्दोलन व्यक्त हुआ है, वह तद्युगीन मजदूर आन्दोलन का प्रभाव है ।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शोध के लिए प्रस्तावित उपन्यासों में मजदूर जीवन खास तौर से औद्योगिक मजदूर जीवन और उसके संघर्ष की अभिव्यक्ति नहीं हुई है । इन उपन्यासों में जिन मजदूरों का जीवन चित्रित हुआ है, वे ग्रामीण परिवेश में रहने वाले, `जन बनिहार`, `बेगार`, `बहिया`, `सवास`, `मजुर` आदि हैं, इसलिए उनके यहां औद्योगिक मजदूरों वाली न समस्याएं हैं और न ही उनके जैसा संघर्ष । परन्तु यहां के ग्रामीण जन-मजदूरों की अपनी समस्याएं और अपने संघर्ष हैं जिनकी अभिव्यक्ति प्रस्तावित उपन्यासों के अन्दर हुई है ।

`बलचनमा` में बलचनमा को `आधा किसान और आधा मजूर` कहा गया है । अपने जीवन के आरंभिक दिनों में वह अपने मालिकों की बेगारी करनेवाला `मजूर` होता है, किसान वह बाद के दिनों में बनता है । डा० कुंवरपाल सिंह ने बलचनमा को `बाल मजदूर` कहा है । उन्होंने लिखा है कि `बलचनमा में बालमजदूरों की समस्या को लेखक ने बहुत संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है । स्वयं बलचनमा भी बाल मजदूर है । गरीबी और अभाव उसे अठारह घन्टे परिश्रम करने के लिए मजबूर करते हैं । चौदह वर्ष

का बलचनमा कच्ची उम्र में ही प्रौढ़ मजदूर बन जाता है । जो बात नागार्जुन ने 1952 में की थी, वह व्यापक पैमाने पर हमें दिखाई देती है ।[51] यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि बलचनमा, कालीन उद्योगों, मिलों, होटलों-ढाबों और दुकानों पर काम करनेवाला बाल मजदूर नहीं है, जिसकी एक निश्चित मजदूरी और मजदूरी का एक निश्चित समय निर्धारित होता है । शोषण उसका भी होता है, लेकिन वह एक हद तक ही शोषित होता है, क्योंकि मजबूरी में कार्य करते हुए भी सीमित अर्थों में वह स्वतन्त्र होता है । तात्पर्य यह है कि वह अपनी इच्छा से कार्य कर सकता है और छोड़ भी सकता है, साथ में खाने-पीने के मामले में भी वह अपनी मरजी का इस्तेमाल कर सकताहै । अब तो स्थिति काफी सुधर गयी है ।`बाल मजदूरी` को कानूनन अपराध मान लेने से और इस दिशा में किए गये महत्वपूर्ण सरकारी प्रयासों से इस समस्या पर एक हद तक रोक लग गयी है । फिर भी, आज का भारतीय समाज इस समस्या से अब भी जूझ रहा है । जहां तक बलचनमा की बात है, वह बाल मजदूर होते हुए भी इनसे अधिक शोषित और उत्पीड़ित होता है । कारण यह है कि वह अपने मालिकों की बेगारी करता है । कहने के लिए उसकी निश्चित मजदूरी और कार्य करने का समय निर्धारित है, लेकिन वास्तव में उसके कार्य करने का घण्टा और उसकी मजदूरी का निर्धारण मालिकों की इच्छा से होता है । उसे किसी तरह की आजादी भी नहीं हासिल है, वह खाने, पहनने और कार्य करने के मामले में पूरी तरह से अपने मालिकों पर निर्भर है । इसलिए उसकी गुलामी बाल मजदूरों से भी अधिक है ।

`वरुण के बेटे` में मछुआरों की कहानी कही गई है । मछुआरों की स्थिति किसान और औद्योगिक मजदूर, दोनों से भिन्न है । वे अपनी दिनचर्या और कार्य-प्रणाली में श्रमिक हैं, जिनका धंधा नाव चलाना, मछली मारना, तथा उसे बाजारों में बेचना और इस प्रकार धनोपार्जन

करना होता है । इसलिए कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में मछुओं के जीवन और उनके संघर्ष के माध्यम से श्रमिक जीवन और उसके संघर्ष की कथा प्रस्तुत की गई है ।

(ख) आर्थिक परिस्थितियां

नागार्जुन के उपन्यासों में युगीन आर्थिक परिदृश्य और उससे जुड़े हुए विभिन्न सन्दर्भों की अभिव्यक्ति हुई है । अंग्रेजी राज्य की आर्थिक नीतियां और उससे भारतीय समाज पर पड़ने वाले प्रभाव की अच्छी खासी चर्चा उनकेउपन्यासों में विद्यमान है । यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि ईस्ट इण्डिया कंपनी के भारत आगमन के पश्चात् यहां का परंपरागत आर्थिक ढांचा तेजी से परिवर्तित हुआ । कंपनी सरकार की आर्थिक नीतियां भारतीय उद्योग धन्धों और यहां की कृषि व्यवस्था को चौपट करने वाली थीं । कंपनी सरकार का उद्देश्य अपने इस उपनिवेश से अधिक से अधिक मात्रा में धन की उगाही करना था, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत का कृषि और शिल्प, दस्तकारी उद्योग का परंपरागत ढांचा चरमरा गया । कंपनी सरकार की शोषण की नीति के तहत इस काल में भारत का शिल्प और दस्तकारी, खास कर सूती वस्त्र उद्योग विनाश के कगार तक पहुंच गया । भारतीय समाज से दस्तकारी उद्योग किस तरह उठता जा रहा था, इस सम्बन्ध में नागार्जुन लिखते हैं -"मिथिला के कुलीन ब्राह्मणियों के जीवन में इस तकली का बहुत बड़ा स्थान रहा है... कहते हैं ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन से पहले तकली चलती थी । तकली के ये सुन्दर और महीन सूत मलमल बुनने के काम आते । परन्तुअब तो यह वस्तु ब्राह्मणों के घरों में रह गई है और इन सूक्ष्म और मनोहर सूतों का उपयोग सिर्फ जनेऊ तक सीमित रह गया है ।"[52] तात्पर्य यह है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन के बाद भारतीय दस्तकारी उद्योग का पतन इस कदर हुआ कि अब यह उद्योग जाति और घर विशेष तक सिमट कर रहगया है, वह भी उद्योग

के रूप में नहीं, निजी जरूरत के रूप में । यहां उल्लेखनीय है कि इस उपन्यास का कालखण्ड सन् 1937 के बाद का है, परन्तु ईस्ट इंडिया कंपनी से जुड़ा सन्दर्भ पुराना है । इससे यह पता चलता है कि नागार्जुन अपने युग से पीछे के प्रमुख सन्दर्भों से भी गहरे रूप में जुड़े हुए हैं, जैसा कि अधिकांश बड़े लेखकों के साथ यह अक्सर होता है ।

ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप यहां जमींदारी प्रथा और महाजनी सभ्यता, विकसित हुईं । ये दोनों प्रथाएं भारतीय किसानों, मजदूरों के लिए जहां अभिशाप बन गई थीं, वहीं अंग्रेजों और उनके प्रतिनिधियों के लिए वरदान । जाहिर है कि इन प्रथाओं ने पहले से ही विषमता पर आधारित भारतीय समाज को और अधिक विषमता परक बना दिया । जमींदारी और महाजनी प्रथा की शोषण की चक्की में पिस कर भारतीय किसान और मजदूर जहां पहले की तुलना में बहुत अधिक निर्धन हो गये, वहीं इनकेशोषण के बल पर जमींदार, साहूकार और उनके प्रतिनिधि और अधिक धनी हो गये । किसानों का शोषण करके किस तरह जमींदार और साहूकार उन दिनों धनी हो गये थे, या होते जा रहे थे, इसका एक उदाहरण 'रतिनाथ की चाची' में नागार्जुन इस प्रकार देते हैं -'राय बहादुर दुर्गानन्दन सिंह जमींदार तो थेही, साथ ही लहना तगादा का भारी कारोबार भी चलाते थे... तीन लाख रुपये पचीसों बस्तियों के इस समुद्र में दांत निपोड़े, पूंछ कड़ी किए मगरों की भांति टहल-टूल रहे थे । ब्याज का दर प्रतिमास डेढ़ रुपये सैंकड़ा था । राजा बहादुर पुराने अंगूठे को साल-साल नया करवाते जाते । सूद भी पूर बनता जाता । चक्रवृद्धि का यह क्रम राजा राय बहादुर की शरीर-वृद्धि के लिए रसायन का काम कर रहा था ।'[53] यही वह वास्तविकता थी जिसके बल पर जमींदार और साहूकार दिन-प्रतिदिन धनी होते जा रहे थे, जबकि किसान और मजदूर निर्धन । आर्थिक विषमता के धरातल पर जमींदार और उनके प्रतिनिधि जहां वैभव और विलास की जिन्दगी जी रहे थे, वहीं गरीब किसानों को खाने तक के लाले पड़े थे । नागार्जुन ने एक जमींदार की वैभव और विलासपूर्ण

जिन्दगी का चित्र इस प्रकार खींचा है -'राधा बाबू के ससुर लखपती जमींदार थे... हाथी भी था, मोटर भी था । टमटम भी था, बग्घी भी । सब्जबहिया पालकी भी थी । पक्का बैठकखाना था । कुरसी, आराम कुरसी, कौच, बेंच, टेबुल, सब कुछ था । नौकरों के लिए कच्ची ईंट की दो-तीन कोठरियां उस तरफ बनाई गई थीं, जिधर गाय भैंस के रहने के लिए जगह थी ।'[54] जबकि इसी समय में एक गरीब किसान बलचनमा को भर पेट भोजन भी नसीब नहीं होता । उसका पेट मालिक के 'जूठन' या 'सड़े गले बासी खाने' से भरता है । और 'भूख के मारे उसकी दादी और मां आम की गुठलियों का गुदा चूर-चूर कर फांकती हैं ।'[55] इस गरीब किसान के लिए जाड़े की रात 'यमराज की बहन' साबित होती है ।

जमींदारों का वैभव और विलास बाद के दिनों में भी बना रहा लेकिन सब कुछ बदल जाने के बावजूद निम्नवर्गीय किसान की हालत नहीं बदली । आजादी के पहले जैसी गरीबी बलचनमा झेलता है, ठीक वैसी ही गरीबी आजादी के बाद 'वरुण के बेटे' का सुरसुन झेलता है । है ।इस गरीब मछुए के घर का चित्र नागार्जुन इस प्रकार खींचते हैं, 'पुआल बिछे थे कोने में, उन पर फटी पुरानी बोरी बिछी थी । एक जवान लड़की और नंग-धड़ंग बच्चे बेतरतीब सोये पड़े थे ।ओढ़ना के नाम पर कथरी-गुदड़ी के दो तीन छोटे बड़े टुकड़े उन शरीरों को जहां तहां ढक रहे थे ।'[56] लेखक सुरसुन की हालत पर टिप्पणी करता है - 'सुरसुन का समूचा संसार ही मानो तेरह फुट लम्बे और नौ फुट चौड़े घर में अटा पड़ा था ।'[57] आजादी के बाद किसान की हालत में कोई विशेष सुधार नहीं आया, जिसकी जिम्मेदारी यहां के सत्तापतियों पर है । यहां आकर बलचनमा की आशंका - 'स्वराज्य मिलने पर बाबू-भैया लोग आपस में ही दही-मछली बांट लेंगे ',[58] सही साबित

होती है । अंग्रेजी राज्य जब समाप्त हुआ तो यहां की सत्ता सचमुच इन लोगों के हाथ में केन्द्रित हो गई जो भारतीय होकर भी आचरण से अंग्रेज थे । यही कारण है कि आजादी के इतने वर्षों बाद भी यहां का किसान, मजदूर और दलित शोषित वर्ग गरीबी से उबर नहीं पाया है । इनका शोषण जैसा पहले होता था, वैसा अब भी हो रहा है - भले ही शोषण का स्वरूप बदल गया है ।

(ग) सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियां

ब्रिटिश काल में आर्थिक ढांचे के बदलाव के साथ-साथ यहां का सामाजिक ढांचा भी परिवर्तित हुआ । वैसे भी, आर्थिक आधार से समाज की संरचना काफी हद तक निर्धारित होती है, इसलिए आर्थिक ढांचा के बदलने से समाज का ढांचा बदलना स्वाभाविक है । लेकिन यह जरूरी नहीं है कि आर्थिक परिवर्तन की जो गति रही है, वही गति सामाजिक परिवर्तन की भी हो । परिवर्तन की यह गति एक दूसरे से भिन्न हो सकती है । यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए अत्यधिक भी जिम्मेदार होते हैं । जिसे आर्थिक परिवर्तन ही नहीं कि जिम्मेदार होता है ।

भारत का सामाजिक ढांचा, विशेषकर गांव का, पहले से ही अत्यन्त जटिल और जड़ किस्म का रहा है । जाति-भेद, लिंग भेद, जैसी प्रमुख समस्याएं इसमें बहुत पहले से विद्यमान रही हैं । हालांकि इन समस्याओं को दूर करने के प्रयास भी समय-समय पर होते रहे हैं और इन प्रयासों से भारत का सामाजिक ढांचा भी परिवर्तित होता रहा है । भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान भेदभाव और छुआछूत जैसी सामाजिक समस्याओं के खिलाफ संघर्ष करना राष्ट्रीय नेताओं और समाज-सुधार संगठनों का प्रमुख उद्देश्य बन गया था । इन समाज सुधार

संगठनों और राष्ट्रीय नेताओं ने इस समस्याओं को दूर करने का जो महत्वपूर्ण प्रयास किया, उससे इस दिशा में पहले की तुलना में काफी प्रगति हुई । नागार्जुन के उपन्यासों में युगीन सामाजिक समस्याओं और इन समस्याओं के बदलते स्वरूप का गंभीर विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत हुआ है । चूंकि उनके उपन्यासों की आधारभूमि ग्रामीण समाज है और ग्रामीण समाज अपनी प्रकृति में अधिक जड़ और जटिल होता है, इसलिए उनके यहां तत्कालीन सामाजिक जड़ता और विसंगतियों को ही प्रमुख रूप से उभारा गया है । उनके यहां सामाजिक सुधार और सामाजिक परिवर्तनशीलता के चित्र भी उभरे हैं, लेकिन अपेक्षाकृत कम ।

स्त्री, भारतीय समाज का अभिन्न और अनिवार्य हिस्सा होकर भी हमेशा से पुरुष प्रधान समाज के सामंती शोषण की शिकार रही है । वह हमेशा 'पुरुष को अमृत पिलाकर' स्वयं 'विषपान' करती आई है ।[59] स्त्री क्यों इस समाज में सर्वाधिक शोषित रही है ? इस सवाल का उत्तर किसी एक कारण में नहीं ढूंढा जा सकता है । क्योंकि, स्त्री के शोषण के लिए हमारी सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था और इसके प्रभुत्वशाली लोगों का सांस्कृतिक वर्चस्व जिम्मेदार है । यदि सामाजिक व्यवस्था को बदल कर और प्रभुत्वशाली लोगों के सांस्कृतिक वर्चस्व को तोड़कर स्त्रियों की अस्मिता का रेखांकन आवश्यक है तो इसके लिए उन्हें स्वयं आगे आना होगा और अस्मिता रेखांकन की इस प्रक्रिया में उन्हें किसी चीज़ से समर्थन प्राप्त हो सकता है, तो वह है शिक्षा । शिक्षा जहां स्त्रियों के उत्थान में मददगार हो सकती है, वहीं स्त्रियां इस देश और समाज के उत्थान में । बलचनमा के माध्यम से नागार्जुन कहते हैं - 'जब लड़कियां भी लड़कों की तरह पढ़ी लिखी होने लगेंगी, तभी इस मुलुक का उद्धार होगा ।'[60]

नागार्जुन एक प्रगतिशील उपन्यासकार हैं, इसलिए समाज के सभी शोषितों, पीड़ितों को उन्होंने सहानुभूति की दृष्टि से देखा है और

और उन्हें अपने उपन्यासों में रचा है । लेकिन इन शोषितों-पीड़ितों में भी स्त्री के प्रति उनकी दृष्टि सर्वाधिक सहानुभूतिपरक रही है । इसका कारण है कि `उन बेचारियों को भारतीय समाज में सबसे बड़ा हरिजन - दलित क्लास - माना जाता है ।`[61] उनकी स्त्री के प्रति गहरी सहानुभूति का परिणाम और प्रमाण यह है कि उन्होंने अपना पहला उपन्यास - मैथिली में `पारो` और `हिन्दी में `रतिनाथ की चाची` स्त्री जीवन और उसके विभिन्न सन्दर्भों पर लिखा ।

नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री जीवन और उससे जुड़े विभिन्न सन्दर्भों की व्यापक अभिव्यक्ति हुई है । इस दृष्टि से उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यास `रतिनाथ की चाची` है । यह उपन्यास इसलिए भी बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें स्वयं लेखक की अपनी, अपने घर की कथा कही गई है । लेखक ने विभिन्न साक्षात्कारों में स्वीकार किया है कि उसकी कथावस्तु लेखक के जीवन से सीधे-सीधे जुड़ी हुई है । इसमें स्वयं लेखक रतिनाथ के रूप में मौजूद है । कहने का तात्पर्य है कि उपन्यास में अपने समय और समाज में स्त्री के यथार्थ जीवन की हर तस्वीर प्रस्तुत की गई है ।

`रतिनाथ की चाची` उपन्यास में नारी-जीवन, विशेष-कर मैथिल समाज में नारी जीवन और उससे संबंधित समस्याओं - विधवा जीवन, बाल विवाह, अनमेल विवाह, विकौआ और बहुपत्नी प्रथा को चित्रित किया गया है । इस उपन्यास की नायिका-रतिनाथ की `चाची` (गौरी) के माध्यम से रूढ़िवादी मैथिल समाज में तिल-तिल कर मरती हुई एक स्त्री की कहानी कही गई है । शुभंकरपुर के इतने बड़े समाज में चाची को सिर्फ अपमान, तिरस्कार और प्रताड़ना मिलती है । उन्हें यदि अपने जीवन में किसी से प्यार मिलता है, तो वह उनके मानस पुत्र

रतिनाथ से अथवा ताराचरण से । अन्यथा, वह भ्रमर वृत्ति के जयनाथ - जिसने चाची के माथे पर हमेशा के लिए `कलंक` का टीका लगा दिया, से लेकर गांव की सभी स्त्रियों, यहा तक कि अपने पुत्र और बहू से भी अपमानित तिरस्कृत और प्रताड़ित होती है । चौतरफा अपमान, तिरस्कार और प्रताड़ना को झेल कर वे अवसाद की उस गहन स्थिति में पहुंच जाती हैं जहां उनके लिए मृत्यु भय की नहीं, प्रेम की चीज बन जाती है । तभी तो वह स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करना चाहती है और अन्ततः ऐसा करती भी है । वे पीड़ा जन्य अवसाद की उस चरम स्थिति में पहुंच जाती हैं जहां उन्हें संपूर्ण मनुष्य जाति से ही घृणा हो जाती है । चाची कहती हैं -`मनुष्य होकर जन्म लेना अच्छा नहीं है । हे भगवान । अगले जन्म भले ही मैं चुहिया होऊं, भले ही नेवला, मगर` चेतनामय इस मानव समाज में न पैदा होऊं ।`[62] सवाल यह है कि चाची के इस गहन अवसाद का कारण क्या है ? निश्चित तौर से इसका कारण, अपनों और गैर-अपनों, द्वारा मिली घोर उपेक्षा और प्रताड़ना है, जिसके कारण वह इस संसार में रहने से बेहतर मर जाना और गैर-मनुष्य प्राणियों में जन्म लेना मानती हैं। सवाल यह है कि चाची का अपराध क्या है, जिसकी इतनी बड़ी सजा शुभंकर पुर का समाज - जिसमें अपने और पराये दोनों शामिल हैं, दे रहा है ।

चाची का अपराध (?) यह है कि वह विधवा होकर भी गर्भ धारण कर लेती है । इस विधवा-ब्राह्मणी का गर्भ धारण करना शुभंकर पुर के समाज में `भूचाल` पैदा कर देता है । वह लोक लाज और सामाजिक प्रताड़ना के भय के कारण गर्भपात करवाने के लिए मजबूर हो जाती है । लेकिन, विडंबना यह है कि ऐसा करके भी वह शुभंकरपुर के इस सामाजिक भूचाल को रोक नहीं पाती है । यहां के समाज में एक बार जो भूचाल पैदा हो जाता है, वह जल्दी थमने का नाम नहीं लेता है ।

उनके इस `कुकर्म ` पर विचार-विमर्श करने के लिए गांव की `महिला परिषद्` की बैठक होती है, जो चाची की निरीहता का लाभ उठाकर उनका उपहास, अपमान और तिरस्कार करती है और साथ में, एक फतवा भी जारी करती है - `उमानाथ की मां (गौरी) व्यभिचारिणी है, पतिता है, कुलटा है, छिनाल है, उससे हमें किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए । बोलचाल बंद । प्रत्यैक व्यवहार बंद ।`[63] यह कैसी विडंबना है । कि चाची के ऊपर इस तरह का फतवा देने वाली स्वयं भी स्त्री हैं - ऐसी स्त्री जिनमें से अधिकांश का इतिहास चाची की तुलना में कहीं ज्यादा अनैतिक और मर्यादाविहीन रहा है ।`महिला परिषद` की सर्वाधिक अग्रणी दमयंती बाल विधवा है । वह अपने `बाल वैधव्य की रंगीनियों ` के लिए मशहूर रही है । इसके अलावा लेखक की राय में `समाजपतियों के कूटनीतिक शतरंज की वह भी एक खिलाड़िन है ।`[64] इस सभा में दमयंती के अलावा जनक किशोरी और शकुंतला शामिल हैं जिनका इतिहास खंगालते हुए लेखक कहता है - `इन्द्रमणि की वही लड़कियां हैं जिनका ब्याह बिकोआ से हुआ था ।... एक का अपने चचेरे भाई से, और दूसरे का कुल्ली राउत के जवान बेटे से गुप्त स्नेह-सम्बन्ध था । साल-डेढ़ साल पर बिकोआ महाशय आ ही जाते । डेढ़ दो मास रहकर फिर चले जाते ।... शकुंतला के पति की सात शादियां थीं और जनक किशोरी के पति की दस । शकुंतला का तीसरा लड़का हू-ब-हू उसके चचेरे भाई की शक्ल का था । जनक किशोरी की दोनों संतानें आकृति में कुल्ली राउत की परंपरा में आती थीं ।`[65] यहां सवाल यह खड़ा होता है कि शुभंकर पुर के इस ब्राह्मण समाज में, चाची सहित अनेक स्त्रियां, क्यों ऐसे अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने पर मजबूर होती हैं ? इस सवाल का जवाब चाची की मां के इस कथन में है - `जिस समाज में हजारों की तादात में जवान विधवाएं होंगी, वहां यही सब तो होगा ।`[66] यहां के समाज

में हजारों की तादात में युवा और बाल विधवाएं हैं जिनके लिए समाज ने ऐसी कोई व्यवस्था अथवा ऐसा कोई विकल्प नहीं दिया है, जिससे वे अपने वैधव्य से मुक्त हो सकें। कितनी बड़ी विडम्बना है कि जिस समाज में पुरुषों को 'बास्स - बास्स' शादियां करने की छूट मिली हुई है, उसी समाज में स्त्री को अपने वैधव्य से छुटकारा प्राप्त करने के लिए भी शादी का कोई विधान नहीं है। जिस समाज में 'बहुपत्नी प्रथा जायज हैं, उसी समाज में स्त्री के लिए एक से अधिक शादी करने का कोई प्रावधान नहीं है। समाज के नियामकों का यह कितना अन्यायपूर्ण विधान है कि जहां पुरुष के विधुरत्व की कोई परिकल्पना नहीं है, वहीं स्त्री को अपने वैधव्य से मुक्त होने का कोई विकल्प नहीं है। तात्पर्य यह है कि स्त्री इस पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था में हमेशा से पुरुष वर्ग के सांस्कृतिक वर्चस्व के अधीन रही है। यह भी कम विडंबनापूर्ण बात नहीं है कि इस समाज-व्यवस्था में एकओर स्त्री जहां स्वयं शोषित है, वहीं वह किसी और स्त्री के शोषण के लिए भी जिम्मेदार है। ऐसा नहीं है कि चाची को उपहास, अपमान और तिरस्कार का पात्र बनाने वाली स्त्रियां इस पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था में शोषण से मुक्त हैं या ऐसा भी नहीं कि वे चाची की तुलना में बहुत नैतिक चरित्र वाली हैं। लेकिन कहा जाता है कि 'समाज उन्हीं को दबाता है, जो गरीब होते हैं। शास्त्रकारों को बलि के लिए बकरे ही नज़र आये।'[67] यहां बलि का बकरा चाची बनती है जिन्हें पुरुष समाज की तरह अपना स्त्री समाज भी प्रताड़ित करता है।

स्पष्ट है कि शुभंकरपुर के ब्राह्मण समाज में चाची या उन जैसी स्त्रियों के जो विवाहेतर सम्बन्ध बनते हैं, इसका मूल कारण उनका बाल या युवा अवस्था में वैधव्य का शिकार हो जाना है। सवाल यह है कि यहां के समाज में 'हजारों की तादात में बाल या युवा विधवाएं क्यों हैं ? इसका कारण किसी प्राकृतिक रहस्य में छिपा है अथवा अशिक्षा,

रूढ़ियों और अंधविश्वासों से ग्रस्त वहां की समाज व्यवस्था में ? निश्चित तौर से इस भयंकर वैधव्य का कारण वहां की जड़ समाज-व्यवस्था की रूढ़ मान्यताओं और अंध विश्वासों में खोजा जाना चाहिए । इस समस्या के लिए जिम्मेदार इस समाज में प्रचलित बाल विवाह, अनमेल विवाह, बिकौआ और बहुपत्नी प्रथा है जिसे यहां के समाज में व्यापक मान्यता प्राप्त है । स्वयं चाची के वैधव्य का कारण उनके अनमेल विवाह में निहित है । स्वस्थ एवं सुन्दर चाची की शादी जिस व्यक्ति से हुई थी, वह रुग्ण मानसिकता और दमा के रोग से पीड़ित, एक दुबली पतली शरीर वाला व्यक्ति था । अनमेल विवाह के कारण जहां एक ओर इस दाम्पत्य जीवन का अल्पकालिक होना तय था, वहीं दूसरी ओर इसका दुखमय होना भी तय था । अनायास नहीं है कि वे अपने दाम्पत्य जीवन की तुलना बैलगाड़ी की गति से करती हैं । वे कहती हैं --'इसी गाड़ी की भांति ढचर-ढचर कुल दिनों तक जैसे तैसे चलता रहा । इस गाड़ी के भी दो बैल बराबर नहीं हैं, और हमारी जोड़ी भी ऐसी ही विषम थी ।'[68] ऐसे अनमेल दाम्पत्य जीवन का असमय अंत होना और इसमें किसी और व्यक्ति - जयनाथ, का आना स्वाभाविक था । अनमेल विवाह से पीड़ित एक मात्र चाची नहीं है, उन जैसी अनेकों लड़कियां हैं । यहां विवाह नैतिक दाम्पत्य बन्धन पर आधारित नहीं होता, बल्कि क्रय-विक्रय पर आधारित होता है । सामान्य स्थिति में यदि वर-वधू का क्रय विक्रय नहीं हो पाता, तो इसके लिए सर्वाधिक सुविधाजनक स्थल 'सोराठ' का मेला है जहां बिचौलिए के माध्यम से शादी का सौदा तय किया जाता है । अनमेल विवाह को प्रश्रय देने में इन बिचौलियों की महान् भूमिका होती है । भोला पंडित अनमेल विवाह कराने का सिद्धहस्त बिचौलिया है । इस 'ब्रह्मपिशाच की सिद्धहस्तता के सम्बन्ध में नागार्जुन लिखते हैं -'असमर्थ व्यक्तियों के प्रति इस ब्राह्मण के हृदय में असीम करुणा थी, कितने ही लूले लंगड़े अन्धे, अपाहिज और बूढ़े भोला पंडित की कृपा से अधखिली कलियों

जैसी बालिकाओं को गृहलक्ष्मी के रूप में पाकर निहाल हो गये । एक व्याह में पचास-पचास रुपये पंडित के बन्धे हुए थे । उमानाथ की बहन, को भी इन्हीं महाशय ने पैंतालिस साल के एक महामूर्ख के चंगुल में डाल दिया था ।'[69]

अनमेल विवाह के मूल में जहां क्रय विक्रय और विकोआ प्रथा जैसी बातें हैं, वहीं यहां के समाज में कुलीनता की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है । चाची की उस रुग्ण और कमजोर व्यक्ति से शादी का कारण यही था कि वह कुलीनता की दृष्टि से श्रेष्ठ था । यहां के समाज में कुलीनता को बेचा जाता है । कुलीनता का महत्व इस अशिक्षित और अंधविश्वासी समाज में अनमेल विवाह के प्रश्रय का कारण बन जाता है । मेवालाल ठाकुर के बारे में नागार्जुन लिखते हैं कि 'पचास वर्ष की उम्र में उन पर यह सनक सवार हुई कि किसी कुलीन कन्या का पाणिग्रहण करना चाहिए । दो शादियां, इससे पहले की थीं और दोनों औरतें मौजूद थीं ।'[70] तात्पर्य यह है कि कुलीनता की भूख और कुलीनता का महत्व ही उन्हें अनमेल और बहु-विवाह - दोनों के लिए प्रेरित करता है ।

आजादी के पहले के ग्रामीण स्त्री जीवन पर जहां 'रतिनाथ की चाची' में विचार-विमर्श हुआ है, वहीं 'वरुण के बेटे' में आजादी के बाद के स्त्री जीवन पर । इन दोनों उपन्यासों में जिस तरह एक युग का अंतर है, उसी तरह इनके नारी चरित्रों और उनसे जुड़े विभिन्न सन्दर्भों में भी एक युग का अंतर दिखाई देता है । पहले उपन्यास में नारी जीवन के केन्द्र में जहां चाची (गौरी) हैं, वहीं दूसरे में मधुरी केन्द्रीय नारी चरित्र है । वह चाची की तुलना में कई अर्थों में भिन्न है । वह चाची की भांति पुरुष को 'अमृत' पिला कर स्वयं 'विष' पीना नहीं जानती

है । उसमें प्रखर स्त्री-चेतना विद्यमान है, इसलिए वह चाची की भांति मौन साधकर सब कुछ बर्दाश्त कर लेना या सामाजिक उत्पीड़न की प्रक्रिया में स्वयं को मिटा देना भी नहीं जानती है । वह विरोध और विद्रोह करना जानती है ।इसीलिए वह अपने 'बौड़म और डरपोक पति को छोड़ देती है । वह अपने पति के बारे में सुमन कक्कड़ के इस कथन का समर्थन करती है कि 'लात मारो साले को ।'[71] यही नहीं, वह पुरुष से अलग होकर स्त्री के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना करती है । वह सोचती है -'क्यों मर्द के कोई औरत अकेली जिन्दगी नहीं गुजार सकती है क्या ?'[72] यह कल्पना उसे आधुनिक चेतना से सम्पन्न स्त्री बना देती है । आज जिस तरह स्त्री पुरुष का आपसी सम्बन्ध सहमति, स्वतन्त्रता के आधार पर चलता है, एक दूसरे की शर्त पर नहीं ठीक इसी तरह के सम्बन्ध की परिकल्पना वह भी करती है । वह पुरुषों के साथ सार्वजनिक जीवन में हिस्सेदारी करके यह साबित कर देती है कि यदि अवसर मिले तो वे भी पुरुषों की बराबरी कर सकती है ।

मधुरी राजनीतिक और सामाजिक जीवन में भी चाची से आगे दिखाई देती है । वह चाची की भांति राजनीतिक जीवन में परोक्ष भागीदारी करने के बजाय प्रत्यक्ष भागीदारी करती है । वह बाढ़ राहत कार्य और किसान आन्दोलन जैसे सामाजिक राजनीतिक कार्यों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेती है । वह शारीरिक सक्रियता और बौद्धिक प्रखरता से मक्खा संघ की लड़ाई एक नया आयाम देती है । वह साहस और बौद्धिक होशियारी में अपने पुरुष साथियों को भी पीछे छोड़ देती है । उसके इस साहस और बौद्धिक होशियारी का पता उस समय लगता है जब वह मक्खा संघ के सदस्यों के साथ डिप्टी मजिस्ट्रेट और पुलिस अधिकारियों का सामना करती है । आन्दोलन में मधुरी की सक्रिय भागीदारी देखकर एक अधिकारी चिढ़ जाता है । वह कहता है --

'मोहन माफ़ी ने आखिर तुम्हें भी कम्युनिज्म का पाठ पढ़ा ही दिया ... राजनीति ही तो एक ऐसी चीज थी, जिसे गांवों की हमारी बहु-बेटियों ने अब तक अपने पास फटकने नहीं दिया था,'[73] सामंती मानसिकता वाले इस अधिकारी के सवाल का जो ज़वाब मधुरी देती है, वह चौंकानेवाला है । वह कहती है -'तो इसमें, क्या हर्ज है हुज़ूर । जिनगी और जहान औरतों के लिए नहीं, क्या ?'[74] मधुरी का यह वाक्य सामंती मानसिकता वाले व्यक्तियों के लिए चुनौती प्रस्तुत करता है । क्योंकि, अब तक 'दुनिया और जहान' दोनों पर इन्हीं लोगों का वर्चस्व रहा है, जो मधुरी औरउस जैसी स्त्रियों के साहस के कारण टूटता नजर आ रहा है ।

चाची (गौरी) की तुलना में मधुरी अधिक स्वतंत्र और विद्रोही है तो इसका एक कारण यह भी है कि जहां चाची ब्राह्मण समाज की स्त्री है, वहीं मधुरी निम्न जाति की । नागार्जुन का मानना है कि बड़ी जाति की स्त्रियों की तुलना में छोटी जाति की स्त्रियां अधिक स्वतन्त्र और एक हद तक सीढ़ियों से भी मुक्त होती हैं । इसका उदाहरण, बुधनाचमाईन के इस कथन से मिल जाता है -'माफ करना बड़ी जात वालों की तुम्हारी यह बिरादरी बड़ी म्लेच्छ बड़ी निठुर होती है, मलिकाईन । हमारी भी बहू-बेटियां रांड हो जाती हैं, पर हमारी बिरादरी में किसी के पेट से आठ-आठ, नौ-नौ महीने का बच्चा निकाल कर जंगल में फेंक आने का रिवाज नहीं है ।' ऐसा इस लिए है क्योंकि छोटी जातियों में स्त्रियों के युवा और बाल विधवा होने का कोई कारण नहीं है । उन्हें अपनी मरजी से एक से अधिक विवाह करने की छूट प्राप्त है ।

राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में समाज सुधार और समाज कल्याण जैसे कार्यक्रम युगीन राजनीतिक और सामाजिक प्रक्रिया के अनिवार्य अंग थे । इन दिनों भारतीय समाज में व्याप्त जाति-पांति

ऊंच-नीच और छुआछूत जैसी समस्याएं सामूहिक राष्ट्रीय चेतना के विकास में बाधक थीं । इसके अलावा, ये समस्याएं भारतीय समाज में तनाव और विषमता के प्रसार का कारण भी बन गई थीं । इसीलिए इस समय दलित और पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए, समाज से जाति-भेद, लिंग-भेद और छुआछूत जैसी समस्याओं को मिटाने के लिए, समाज सुधार और समाज कल्याण जैसे कार्यक्रम चलाए जा रहे थे, जिसका उद्देश्य समाज में बढ़ते हुए विषमता और तनाव का शमन करना और सामूहिक राष्ट्रीय चेतना का विकास करना था ।

तीस के दशक में सुधार कार्यक्रमों को गति देने में महात्मा गांधी और डा० अम्बेडकर का प्रमुख योगदान था । कई बिन्दुओं पर आपस में मतभेद होने के बावजूद दोनों ने पिछड़ी और दलित (हरिजन)जातियों को उनके अधिकार दिलाने, और समाज में उन्हें सम्मान दिलाने के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किए। गांधी जी का `अछूतोद्धार आन्दोलन` इसी प्रक्रिया का एक हिस्सा था । गांधी जी के राष्ट्रीय आन्दोलन का एक पहलू उनके रचनात्मक कार्यक्रमों से जुड़ा हुआ था । इस दौरान गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों का प्रभाव किस तरह लोगों पर पड़ रहा था, इसका जिक्र `कलचनमा` के फूल बाबू इस प्रकार करते हैं -`यहां ऊंच-नीच का झंझट नहीं है । गांधी महतमा को अपना गुरु माननेवाले आसरम के लोग, न तो छुत-छात मानते हैं न ऊंच-नीच ।`[75] कथन से जाहिर है कि गांधी जी के सुधारात्मक कार्यक्रमों का प्रभाव बहुत व्यापक नहीं था । वह कुछ लोगों के हाथों में सीमित होकर रह गया था । वैसे भी, कोई समाज-सुधार कार्यक्रम तभी सफल हो सकता है, जब लोगों में उसके प्रति गहरी चेतना विद्यमान हो और इसका प्रचार प्रसार भी व्यापक स्तर पर हो । ऐसा न होने पर समाज सुधार कार्यक्रम की सफलता संदिग्ध हो जाती है । मात्र कुछ गिने चुने लोगों को इससे प्रभावित हो जाने से कुछ नहीं होता । इसलिए कलचनमा की यह आशंका कि -

'ऊंच-नीच का भेद सदा से चला आया है, सदा रहेगा । चार आदमियों के सामने से क्या आता-जाता है ।'[76] - स्वाभाविक लगने लगती है ।

सुधार कार्यक्रमों का कुछ लोगों तक सीमित रहने के कारण ही आजादी के पहले भारतीय गांवों में सामाजिक परिवर्तन का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता है, यदि दिखाई भी देता है तो सीमित अर्थों में । ग्रामीण समाज में आये इस सीमित परिवर्तन का रेखांकन बलचनमा इस प्रकार करता है -'हमारी तरफ छोटी जात वाले, बड़ी जात वालों का जूठन खुलकर खाते थे, अब पंचायत ने जूठन खाना और भार ढोना रोक दिया है ।'[77] कथन से आशय निकलता है कि गांव के सामाजिक जीवन में परिवर्तन आया है । लेकिन यह परिवर्तन बहुत 'रेडिकल' नहीं है । इसीलिए इस समय गांव में ऊंची जातियों का वर्चस्व अब भी बना हुआ था । बलचनमा कहता है कि 'हमारे गांव में पंडितों का बड़ा दबदबा है । राज ही उन्हीं का है । हां, भैया आजकल भी ।'[78] यही कारण है कि गांव के समाज में छोटी जातियों को अब भी उनका हक नहीं मिल पाया है और प्रत्येक क्षेत्र में उच्च जातियों का वर्चस्व कायम है । यह अनायास नहीं है कि 'रतिनाथ की चाची' के जयनाथ कुल्ली राउत पर मात्र इसलिए आग बबूला हो जाते हैं क्योंकि वह बौद्धिक स्तर पर ब्राह्मणों के एकाधिकार को चुनौती देने लगता है । जयनाथ 'फुफकार' कर कुल्ली राउत के बारे में कहते हैं, 'साले की चमड़ी उधेड़ लूंगा । शूद्र है तो शूद्र की भांति रहे ।'[79] जयनाथ उसके ऊपर इसलिए फुफकारते हैं, क्योंकि 'उसे संस्कृत के कई स्तोत्र याद थे । जनेऊ का मंत्र वह जानता था और कहते संकोच होता है, गायत्री भी उसे आती थी । संकोच इसलिए कि गायत्री के लिए ब्राह्मण-बटुकों का उपनयन संस्कार होता है, और जो सिर्फ द्विजों की चीज है, उस महान प्रणव को एक

जान जाए, यह असह्य है ।'[80] लगता है, यहां का सामाजिक आदर्श यही है कि 'पूजिअ विप्र सकल गुन हीना । शूद्र न पूजिअ सकल प्रवीना' । जयनाथ केवल इसलिए क्रोधित होते हैं कि कुल्ली राउत अपनी बौद्धिक प्रतिभा के बल पर ब्राह्मणों का कर्म सीख जाता है, जिस पर वे अपना एकाधिकार बनाए हुए हैं ।

इस दौर में पिछड़ी और छोटी जातियों ने अपना एकाधिकार बनाए हुए अपनी अस्मिता के रेखांकन की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है । हालांकि ग्रामीण समाज में इस प्रवृत्ति का रेखांकन वैसी स्पष्टता के साथ नहीं हो रहा था, जैसा कि शहरी अथवा अपेक्षाकृत अधिक पढ़े-लिखे समाजों में । बावजूद इसके, ग्रामीण समाज में भी एक हद तक अस्मिता बोध की प्रवृत्ति उभर रही थी, इसलिए छोटी जातियां, सवर्णों के वर्चस्व को चुनौती देने के लिए, विद्रोह का रास्ता अपना रही थीं । बलचनमा जो अपने जीवन के आरंभिक दिनों में बिलकुल शांत और निरीह होता है, बाद के दिनों में विद्रोही बन जाता है । वह रेवती के साथ बलात्कार के प्रयास को गंभीरता से लेता है और अपने मालिक के प्रति विद्रोही स्वर में कहता है -'बेसक । मैं गरीब हूं, तेरे पास अपार संपदा है, कुल है, खानदान है, बाप दादे का नाम है, आस-पड़ोस की पहचान है ।... मगर आखिरी दम तक लगा दूंगा । मां और बहन को जहर दे दूंगा, लेकिन उन्हें तू अपनी रखैली बनाने का सपना कभी नहीं पूरा कर सकेगा ।'[81] बलचनमा के इस कथन से छोटी जातियों में उभरती विद्रोही चेतना और आत्म-बोध की प्रवृत्ति का आभास मिलता है ।

नागार्जुन ने आजादी के बाद की सामाजिक स्थिति और जाति-पांति के परिवर्तित स्वरूप पर 'वरुण के बेटे' में विचार विमर्श किया है । जाति पांति के इस बदलते हुए स्वरूप पर इस उपन्यास का मोहन

मांझी कहता है -'जाति पांति की पुरानी दीवारें ढह रही हैं, नये प्रकार की विशाल बिरादरी उनका स्थान लेने आ रही है ।'[82] इस कथन से इस तथ्य का पता चलता है कि आजादी से पहले सामाजिक परिवर्तन की जो प्रक्रिया धीमी थी, वह आजादी के बाद तीव्र हुई है । साथ ही इसका प्रभाव ग्रामीण समाज पर भी पड़ा है । सामाजिक परिवर्तन की इस प्रक्रिया में पुराने जातीय समीकरण बदल रहे हैं और छोटी जातियां पहले की तुलना में अधिक सशक्त होकर उभर रही हैं । मोहन मांझी अपनी मल्लाह जाति के बदलते स्वरूप के सम्बन्ध में कहता है, 'अब हमारी बिरादरी खेती भी करती है, मजदूरी भी । पढ़ लिखकर कुछ-एक भाई बहन ऊँचे ओहदों पर भी पहुंच रहे हैं । समूचे भारत को छोड़ दें । बिहार को ही लीजिए । अपनी बिरादरी के सैकड़ों लड़के आज बिहारी लड़कों और दूसरे-दूसरे प्रदेशकेप्रवासी लड़कों के साथ मिल-जुलकर स्कूलों-कालेजों में ज्ञान-विज्ञान हासिल कर रहे हैं ।'[83] इस कथन से बदलते हुए सामाजिक परिदृश्य और इसमें दलितों, पिछड़ों की उभरती स्थिति का प्रमाण मिलता है । वरुण के बेटे उपन्यास में स्वयं मोहन मांझी पिछड़े वर्ग से आता है । किसान आन्दोलन और तत्कालीन राजनीति में उसकी सक्रिय भागीदारी इस बात का प्रमाण है कि यहां के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में छोटी जातियों की भागीदारी बढ़ रही है । नागार्जुन ने इस उपन्यास में तत्कालीन समय की वास्तविकताओं को मार्मिक ढंग से उभारा है ।

(ii) नागार्जुन की विचारधारा

सामान्यत: उच्च कोटि के रचनाकार किसी-न-किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध होते हैं । विचारधारा रचनाकार के लिए दृष्टि का काम करती है । वह रचनाकार को एक निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित करती है । इसलिए विचारधारा से प्रतिबद्ध होकर रचनाकार का लेखन

तरह-तरह के भटकावों से बच जाता है । विचारधारा से रचनाकार के प्रतिबद्ध होने का महत्वपूर्ण लाभ यह होता है कि वह उसके लेखन को सोद्देश्य बनाती है, साथ ही विषय-वस्तु के चयन में तथा उसके रचनात्मक उपयोग में वह रचनाकार की मदद करती है । विचारधारा रचनाकार को एक दृष्टि प्रदान करती है, जिससे वह अपने समय के सवालों से टकराते हुए इस बात का निर्णय करता है कि रचना में उसे किसका पक्ष लेना और किसका विरोध करना है ।

उद्देश्य विहीन अथवा विचार विहीन साहित्य को, उत्कृष्ट साहित्य नहीं कहा जा सकता । क्योंकि साहित्य एक विचारधारात्मक संरचना है । साहित्य केवल मनोरंजन अथवा दिल बहलाने के लिए नहीं लिखा जाता, उसका एक निश्चित उद्देश्य होता है । इसीलिए लेखक प्रत्यक्ष रूप सेया अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी विचारधारा का पक्षधर अथवा विरोधी होता है । जहां तक नागार्जुन की बात है, वह वामपंथी विचारधारा से प्रतिबद्ध रचनाकार है । लेकिन सुखद बात यह है कि उन की प्रतिबद्धता, सबसे पहले गरीब किसानों-मजदूरों के प्रति है, उसके बाद किसी राजनीतिक अथवा दार्शनिक विचारधारा के प्रति । उन्होंने अपनी पहली प्रतिबद्धता का उल्लेख करते हुए लिखा है --

`प्रतिबद्ध हूं, जी हां प्रतिबद्ध हूं -
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति निमित्त ।`[84]

इन पंक्तियों में नागार्जुन ने घोषित रूप से स्वीकार किया है कि उनकी पहली प्रतिबद्धता `बहुजन समाज` के प्रति है । वैसे भी, एक महत्व-पूर्ण रचनाकार सबसे पहले अपने आसपास के समाज से जुड़ा होता है । वह इसी समाज की व्यापक अनुभव प्रक्रिया से गुजर कर एक रचनाकार बनता है । उसकी दृष्टि भी समाज के घटना-प्रवाह और जीवन जगत् की सूक्ष्म अनुभूतियों की उपज होती है । यह अनायास नहीं है कि एक

बड़ा रचनाकार किसी राजनीतिक अथवा दार्शनिक विचारधारा से अधिक महत्व उस विचार दृष्टि को देता है जिसे उसने जीवन जगत् के व्यापक अनुभवों से प्राप्त किया है । स्वयं नागार्जुन इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनकी पहली प्रतिबद्धता अपने आसपास के समाज और उसकी अनुभूतियों से जुड़ी हुई है । वे कहते हैं -'अस्सी प्रतिशत जनता हमारी इष्ट देता है, जो जीवन के आसपास फैली हुई है । मैं भी उन्हीं के साथ जुड़ा हुआ हूं । मैं समाज के घटना प्रवाह से विच्छिन्न नहीं हूं ।'[85] आशय यह है कि नागार्जुन अपने लेखन में उस बहुजन समाज की आशाओं-आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देते हैं, जिससे वे संवेदन के स्तर पर गहराई से जुड़े हुए हैं ।

'बहुजन समाज' के प्रति प्रतिबद्ध होने का अर्थ यह नहीं है कि किसी राजनीतिक विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता से परहेज रखा जाय । राजनीतिक विचारधारा भी लेखक के लिए उपयोगी हो सकती है, बशर्ते कि वह जीवन और जगत् को समझने में तथा इनके सवालों से टकराने में लेखक की मदद करे । लेकिन वह विचारधारा जो लेखन को जीवन और जगत की वास्तविकताओं से पलायन की ओर ले जाती है, निश्चित तौर से अनुपयोगी होती है । नागार्जुन वामपंथी विचारधारा से प्रतिबद्ध हैं, तो इसका प्रमुख कारण यही है कि यह विचारधारा जीवन-जगत को और उसके सवालों को समझने में लेखक की मदद करती है।

नागार्जुन को राजनीति से गहरा सरोकार है। वे साहित्य को राजनीति से बिलकुल विच्छिन्न नहीं मानते हैं । स्वयं उनका लेखन इस का प्रमाण है कि वे राजनीति से गहरे रूप में प्रभावित रहे हैं । वैचारिक स्तर पर वे राजनीति और राजनीतिक विचारधारा से पहली बार सन् 1930 के आसपास प्रभावित होते हैं, गांधीवाद से । इस सम्बन्ध में

वे कहते हैं -'पहला संपर्क जो हुआ, वह गांधीवाद से हुआ, चूंकि हमारे कई मित्र थे जो काशी विद्यापीठ में पढ़ते थे और वह गांधीवाद का गढ़ था । इसी कारण मुझमें एक राष्ट्रवादी सम्मान भी पैदा हुआ ।'[86] गांधी जी के तत्कालीन युग-व्यापी प्रभाव को देखते हुए नागार्जुन का उनसे प्रभावित होना स्वाभाविक था । नागार्जुन ही नहीं, इस दौर के सभी प्रमुख रचनाकार - जिनमें से अधिकांश रचनाकारों का बाद के दिनों में गांधीवाद से मोहभंग हो जाता है, गांधीवाद से प्रभावित हुए थे। नागार्जुन गांधीवाद के प्रभाव से बहुत जल्दी मुक्त हो जाते हैं, लेकिन आश्चर्य जनक बात यह है कि गांधीवाद से मुक्ति पा जाने के बाद भी वे उनके 'राष्ट्रवादी' प्रभाव से बहुत दिनों तक मुक्त नहीं हुए । सन् 1962-63 में उन्होंने जो चीन और चीन समर्थक कम्युनिस्टों के विरोध में कविताएं लिखी थीं, उसके पीछे कहीं राष्ट्रवादी सम्मान की भावना विद्यमान थी । स्पष्ट है कि गांधीवाद से पीछा छुड़ाकर और गांधीवाद का विरोध करते हुए भी एक हद तक वे गांधीवाद के प्रभाव में बने रहे । इसका प्रमाण हम 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में ढूंढ सकते हैं । इस उपन्यास की नायिका 'चाची' का चरखा चलाना और सदगी तथा सदाचार का पालन करना जैसे कृत्यों के मूल में गांधीवादी प्रभाव देखा जा सकता है ।

नागार्जुन वैचारिक स्तर पर गांधीवाद और कांग्रेस के मुखर विरोधी रहे हैं और इसके पीछे कारण यह है कि उनकी वामपंथी विचारधारा में गहरी आस्था रही है । वामपंथी विचारधारा का उनके ऊपर पहला प्रभाव - अत्यन्त क्षीण रूप में, वाराणसी प्रवास के दौरान पड़ा था । वे कहते हैं -'काशी में रहते वक्त पंडिताऊ परिधि के अन्दर पहली बार मुझे पता चला कि प्रगतिशीलता किसे कहते हैं ।'[87] उसमें इस विचारधारा की हलकी फुलकी समझ श्रीलंका प्रवास के दौरान विकसित हुई । वे कहते हैं -'सन् 1937 में लंका के विद्यालंकार के महाविहार

में रहतेवक्त वहां के समाजवादी अध्यापक साधुओं से मेरा प्रथम परिचय हुआ । और तभी मार्क्स, लेनिन, स्टालिन की कुछ एक पुस्तकों को पढ़ने का मौका मिला ।[88] बौद्ध भिक्षु बनने के बाद उनमें जो वामपंथ की आरम्भिक समझ विकसित हुई थी, उसे प्रौढ़ता मिली, स्वामी सहजानंद से संपर्क होने के बाद । नागार्जुन कहते हैं, 'सन् 1938 में श्रीलंका से वापिस आने पर अपने राजनैतिक गुरु विख्यात किसान नेता स्वामी सहजानन्द के साथ में समर स्कूल आफ पालिटिक्स के क्लास मेंसम्मिलित हुआ । वहां समूचे भारत के तपे तपाये और सिद्धांतवादी सोशलिस्ट कम्युनिस्ट और कांग्रेसी टाइप के प्रखर राष्ट्रवादी समाजवादी नेता क्लास लिया करते थे । मैं बौद्ध-साधु, भिक्षु नागार्जुन की भूमिका में शिक्षण शिविर में प्रारंभ से अंत तक लगभग तीस दिन रहा ।'[89] यहीं मार्क्सवाद (वामपंथ) का सैद्धांतिक ज्ञान अर्जित करने के बाद उन्होंने बिहार के किसान आन्दोलन में भाग लेकर इसे अपने व्यावहारिक जीवन में भी उतारा । वामपंथी विचारधारा का सैद्धांतिक और व्यावहारिक ज्ञान का परिणाम है कि उनके उपन्यासों में समाजवादियों, साम्यवादियों के जो चरित्र उभरे हैं, वे अपने समाज और परिवेश की उपज लगते हैं, लेखक के हाथों के खिलौने नहीं । 'बलचनमा' के 'राधा बाबू' हों, डा० रहमान हों, 'रतिनाथ की चाची' के ताराचरण हों अथवा 'वरुण के बेटे' के मोहन मांझी, ये सभी चरित्र यदि अपने परिवेश की उपज लगते हैं - हालांकि एक हद तक ये भी प्रचारबहुलता की प्रवृत्ति से ग्रस्त हैं, तो इसका एक मात्र कारण यही है कि लेखक को वामपंथ का सिर्फ किताबी ज्ञान ही नहीं है, वरन् उसका व्यावहारिक ज्ञान भी है ।

वामपंथी विचारधारा से प्रतिबद्ध, नागार्जुन अपने आरंभिक दिनों में समाजवादियों के प्रति आस्थावान रहे । 'बलचनमा' में बलचनमा की राधा बाबू के प्रति 'सधाँ' इसलिए हो जाती है क्योंकि वे बाद के दिनों में समाजवादी हो जाते हैं । यहां स्पष्ट करना आवश्यक है

कि समाजवादियों के प्रति बलचनमा की श्रद्धा अथवा स्वयं बलचनमा का समाजवादी होना लेखक की समाजवादियों के प्रति गहरी आस्था का प्रमाण है । लेकिन, उल्लेखनीय है कि यायावर वृत्ति वाले नागार्जुन समाजवादियों के प्रति भी बहुत दिनों तक आस्थावान नहीं रहे । कुछ दिनों बाद समाजवादियों के विरोधी हो गये । समाजवादियों से विरोध का क्या कारण था, इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं :-पहले सोशलिस्ट पार्टी देहातों में किसानों का साथ देती थी, जमींदारों के खिलाफ देहातियों के बीसियों मोर्चे पार्टी की निगरानी में जहां तहां कायम हुए थे... लेकिन पिछले पांच वर्षों में सोशलिस्टों का तेज घटता आया है । कसूर इसमें पार्टी के साधारण कार्यकर्ताओं का नहीं, बल्कि ऊपर की सोशलिस्ट नेताशाही का था ।'[90] यही वजह है कि नागार्जुन की आस्था समाजवादियों से उठ जाती है और उनका झुकाव साम्यवादियों की ओर हो जाता है । 'वरुण के बेटे' में मोहन मांझी का समाजवादियों से मोह भंग स्वयं लेखक का मोहभंग है और उसका साम्यवादी होना लेखक का साम्यवादी होना है । लेखक मोहन मांझी की इस बात के लिए प्रशंसा करता है कि 'अब वह हंसिया - हथौड़ा - मार्का लाल झण्डावाली किसान सभा का थाना-सभापति था । इससे पहले प्रजासमाजवादी पार्टी की जिला कमेटी का सदस्य था ।'[91] कहना न होगा कि मोहन मांझी के राजनीतिक विचारों का परिवर्तन स्वयं लेखक के राजनीतिक विचारों का परिवर्तन है ।

नागार्जुन साम्यवादियों से जुड़े के बावजूद पार्टीवादी नहीं बने । उन्होंने कभी भी पार्टी की शर्तों पर वामपंथी विचारधारा का उपयोग अथवा दुरुपयोग नहीं किया । यहां यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपने विवेक को पार्टी प्रतिबद्धता से अधिक महत्व दिया । यही कारण है कि कुछ मुद्दों पर उनकी साम्यवादी पार्टियों और साम्यवादी नेताओं

से बराबर अनबन होती रही । सन् 1962 के चीन-आक्रमण के बाद उन्होंने चीन और मार्क्सवादियों के खिलाफ बहुत सारी कविताएं लिखीं, जिसके कारण उन्हें पार्टी सदस्यता से इस्तीफा देना पड़ा और उग्र मार्क्सवादियों से भी बहुत भला-बुरा सुनना पड़ा । ध्यातव्य है कि इस दौर के कुछ अति मार्क्सवादियों ने नागार्जुन को 'अराजकतावादी' और सर्वनकारवादी जैसी संज्ञाओं से विभूषित (?) किया था । इन मार्क्सवादियों की नाराजगी का एक मात्र कारण यह था कि नागार्जुन पार्टी प्रतिबद्धता से अधिक महत्व अपने विवेक को देते हैं । सवाल यह है कि क्या पार्टी से प्रतिबद्धता ही रचनाकार की ईमानदारी का प्रमाण है ? चाहे पार्टी का चरित्र प्रतिक्रियावादी ही क्यों न हो । पार्टी से चिपके रहना एक राजनीतिज्ञ की विवशता हो सकती है, साहित्यकार की नहीं ।साहित्यकार पार्टी का और पार्टीगत राजनीति का पिछलग्गू नहीं होता, वह सबसे अधिक भरोसा अपने विवेक पर करता है । नागार्जुन ने कहा है कि 'हम संगठन के विरुद्ध नहीं हैं, लेकिन संगठन का साथ देने का मतलब अगर यह लगाया जाता है कि हम अपने विवेक के शत्रु हो जाएं तो हमें स्वीकार नहीं ।'[92] विवेक पर भरोसा होने के कारण लेखक को पार्टी की शर्तों पर काम करना मंजूर नहीं है । नागार्जुन का मानना है कि लेखक अपने विवेक के आधार पर पार्टी के विचारों का समर्थन अथवा विरोध करने के लिए स्वतंत्र होता है । नागार्जुन ने कहा है कि 'बाहर-बाहर तो हम प्रगतिशील बने रहें और भीतर वही प्रतिक्रियावाद काम करता चले तो फिर कैसी राष्ट्रीयता और कैसी साम्यवादिता ।'[93] तात्पर्य यह कि केवल सिद्धान्त के स्तर पर मार्क्सवादी बने रहने से काम नहीं चलेगा । मार्क्सवाद को व्यावहारिक स्तर पर भी अपनाना होगा । इसके लिए मार्क्सवाद और मार्क्सवादियों को अपने यहां की जनसंस्कृति और जनसंघर्षों से जुड़ना होगा । रूस और चीन के प्रति अधिक जुड़ने की अपेक्षा अपने राष्ट्रीय सन्दर्भों से जुड़ना

होगा । नागार्जुन ने लिखा है -'अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद जब राष्ट्रीय हो लेगा, तभी वह राष्ट्रीय मार्क्सवाद की संज्ञा पा सकेगा । मेरे लिए इसका मतलब स्थानीय समस्याओं से निकट के संघर्षों से जुड़ना है ।'[94] अन्यत्र उन्होंने कहा है -'मैं स्थानीय घटनाओं से निर्लिप्त होकर मार्क्सवादी नहीं रहना चाहता ।'[95] कहना न होगा कि इन कसौटियों पर भारतीय मार्क्सवाद और यहां के मार्क्सवादी कभी भी पूरी तरह खरे नहीं उतरे । यही कारण है कि यहां का मार्क्सवाद और यहां के मार्क्सवादी भारतीय राजनीति में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका के रेखांकन में अभी तक असफल रहे हैं। जाहिर है कि नागार्जुन ने जिन मार्क्सवादियों (साम्यवादियों) का विरोध किया था, उनका चरित्र इसी लायक था । इसलिए नागार्जुन को 'सर्वनकारवादी' और 'अराजकतावादी' कहने वाले निश्चित तौर से नागार्जुन के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रस्त हैं । विश्वनाथ त्रिपाठी ने सही लिखा है कि 'नागार्जुन वामपंथी रचनाकार हैं । वामपंथी पार्टियों की तात्कालिक नीतियों पर उन्होंने बहुत चोटें की हैं - देशी विदेशी सभी वामपंथी पार्टियों पर । और ज्यादातर मामलों में इतिहास ने उन पार्टियों को गलत साबित किया है और नागार्जुन को सही ।'[96] कहने का आशय यह है कि वामपंथी पार्टियों की आलोचना करने मात्र से नागार्जुन को प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता । उनका संपूर्ण लेखन इस बात का प्रमाण है कि वामपंथियों का और वामपंथी पार्टियों का विरोध करते हुए भी विचारधारा के स्तर पर वे वामपंथ से जुड़े रहे । यह विचारधारा उनके सम्पूर्ण लेखन में विद्यमान है । राजनीति के क्षेत्र में वे गांधीवादी, सुभाषवादी, जयप्रकाशवादी, सभी जमातों में बैठे, इसके बावजूद वामपंथ और 'बहुजन समाज' से उनकी प्रतिबद्धता हमेशा बनी रही । यही कारण है कि उनके सम्पूर्ण लेखन में किसानों-मजदूरों के हितों की बात कही गई है, उनकी आशाओं - आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दी गई है और इस वर्ग के खिलाफ काम करने वाली प्रतिक्रियावादी ताकतों की अच्छी खासी खबर ली गई है ।

संदर्भ

1. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 96
2. नागार्जुन, बलचनमा, पृ0 52
3. वही, पृ0 46
4. वही, पृ0 52
5. वही
6. वही, पृ0 81
7. वही, पृ0 83
8. वही, पृ0 99-100
9. वही, पृ0 101
10. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 91
11. वही
12. नागार्जुन, वरुण के बेटे, पृ0 36
13. नागार्जुन, बलचनमा, पृ0 136
14. वही
15. वही, पृ0 137
16. विपिन चन्द्र, भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, पृ0 280
17. नागार्जुन, बलचनमा, पृ0 137
18. वही
19. वही, पृ0 143
20. वही, पृ0 150
21. वही, पृ0 142
22. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 86
23. नागार्जुन, बलचनमा, पृ0 158
24. विपिन चन्द्र, भारत का स्वतन्त्रता संग्राम, पृ0 281
25. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 86

26. वही, पृ0 86
27. वही, पृ0 87
28. वही
29. बिपिनचन्द्र,भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, पृ0 262
30. वही, पृ0 262-63
31. नागार्जुन, बलचनमा, पृ0 83
32. वही, पृ0 137
33. वही, पृ0 142
34. वही
35. वही, पृ0 143
36. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 152
37. नागार्जुन, बलचनमा, पृ0 160
38. वही
39. वही, पृ0 147
40. वही
41. वही, पृ0 150
42. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 88
43. नागार्जुन, वरुण के बेटे, पृ0 25-26
44. वही, पृ0 27
45. वही, पृ0 52
46. वही, पृ0 90
47. वही, पृ0 97
48. मोहन राकेश द्वारा संपादित - सारिका में `आईने के सामने` - उद्भावना (नागार्जुन विशेषांक) अंक 51, 52 में पुन: प्रकाशित पृ0 86
49. वही
50. नागार्जुन,वरुण के बेटे, पृ0 99

51. कुंवर पाल सिंह, नागार्जुन के उपन्यासों में जन संघर्ष और परिवर्तन के स्वर - `उल्का` (नागार्जुन विशेषांक) वर्ष 15, अंक 51, 52, पृ0 66
52. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 13-14
53. वही, पृ0 85
54. नागार्जुन, बलचनमा, पृ0 104
55. वही, पृ015
56. नागार्जुन , वरुण के बेटे, पृ0 10
57. वही
58. नागार्जुन, बलचनमा, पृ0 136
59. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 91
60. नागार्जुन,बलचनमा, पृ0 111
61. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 151
62. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 141
63. वही, पृ0 61
64. वही, पृ0 63
65. वही, पृ0 62
66. वही, पृ027
67. वही, पृ0 54
68. वही, पृ0 56
69. वही, पृ0 65
70. वही, पृ070
71. नागार्जुन, वरुण के बेटे, पृ0 74
72. वही
73. वही, पृ0 96
74. वही

75. नागार्जुन, बलचनमा, पृ0 78
76. वही
77. वही, पृ0 17
78. वही, पृ0 41
79. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 50
80. वही
81. नागार्जुन, बलचनमा, पृ072
82. नागार्जुन, वरुण के बेटे, पृ0 31
83. वही
84. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएं (सं0 नामवर सिंह), पृ0 15
85. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 15
86. वही, पृ0 189
87. वही, पृ0 19
88. वही
89. वही
90. नागार्जुन, बाबा बटेसरनाथ, पृ0 139
91. नागार्जुन, वरुण के बेटे,पृ0 26
92. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 125
93. वही, पृ0 55
94. वही
95. वही
96. विश्वनाथ त्रिपाठी, बाबा नागार्जुन - नागार्जुन : विचार सेतु (सं0 महावीर अग्रवाल), पृ0 42

अध्याय - 3 : नागार्जुन की औपन्यासिक कला

(i) नागार्जुन के उपन्यासों की संरचना

(ii) नागार्जुन के औपन्यासिक शिल्प की सीमाएं

(i) नागार्जुन के उपन्यासों की संरचना

नागार्जुन मूलत: सामाजिक यथार्थवादी शिल्प के उपन्यासकार हैं । वैसे, इस बात को लेकर आलोचकों में मतभेद रहा है कि नागार्जुन के उपन्यास आंचलिक हैं या समाजवादी यथार्थवादी । डा० नन्ददुलारे वाजपेयी उन्हें आंचलिक उपन्यासकार मानते हैं और हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों के सृजन का श्रेय भी उन्हें ही देते हैं । वे लिखते हैं -`यदि आंचलिक उपन्यास वस्तुत: हिन्दी में एक नई औपन्यासिक प्रगति के प्रतीक हैं, तो ऐसे उपन्यासों की सृष्टि का श्रेय नागार्जुन और रेणु-जैसे लेखकों को दिया जा सकता है ।`[1] वाजपेयी जी की दृष्टि में हिन्दी में आंचलिक उपन्यास लिखने का श्रेय नागार्जुन और रेणु, दोनों को जाता है । यहां उल्लेखनीय है कि रेणु के `मैला आंचल` जिसे हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास माना जाता है, से पूर्व नागार्जुन के `रतिनाथ की चाची` और `बलचनमा` उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे । इस प्रकार वे हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यासकार होने का श्रेय नागार्जुन को देते हैं । वाजपेयी जी के इस कथन से सहमति व्यक्त करते हुए कई आलोचकों ने मान लिया कि नागार्जुन आंचलिक उपन्यासकार हैं, जबकि वास्तविकता इससे भिन्न है । नागार्जुन के यहां आंचलिकता का संस्पर्श जरूर विद्यमान है, लेकिन वे उन अर्थों में आंचलिक उपन्यासकार नहीं हैं, जिन अर्थों में रेणु । यह सच है कि उनके उपन्यासों में मिथिला अंचल अपनी प्रकृति और लोकसंस्कृति के साथ मौजूद है, लेकिन एक परिवेश के रूप में कथानायक के रूप में नहीं - जैसा कि आंचलिक कथाकारों के यहां होता है । लेखक ने स्वीकार किया है कि`... बचपन से ही मैं जिस परिवेश और जिस माहौल में पूरी तरह से गुंथा हुआ था, उसको मैंने उपन्यासों में लिखा ।`[2] तात्पर्य यह कि लेखक ने जिस परिवेश को देखा था, जिससे वह जुड़ा हुआ था, उसे अपने उपन्यासों में चित्रित किया ।

लेकिन, सवाल यह है कि अंचलविशेष और उसके परिवेश को लेखक ने किस दृष्टि से देखा है और किस रूप में उसे अपने उपन्यासों में चित्रित किया है । नागार्जुन की गांव या अंचल विशेष के प्रति दृष्टि यथार्थवादी रही है, आंचलिक कथाकारों की भांति रूमानी नहीं । यही वजह है कि उनका मन मिथिला की प्रकृति, और लोकसंस्कृति - खान-पान, आचार-व्यवहार, अंधविश्वास, लोकाचार, व्रत-त्यौहार, मेला बाजार, नृत्य और गीत संगीत, के चित्रण में उतना नहीं रमा है, जितना कि वहां के यथार्थ जीवन और उसकी विषमताओं-विसंगतियों तथा संघर्षों के चित्रण में ।

नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित मिथिला अंचल अपनी विसंगतियों, विद्रुपताओं के कारण पाठक पर प्रभाव डालता है, न कि नायकत्व के कारण । मिथिला की प्रकृति और संस्कृति का उपयोग परिवेश के रूप में करते हुए भी उपन्यासकार नागार्जुन का मुख्य उद्देश्य वहां के किसान जीवन, स्त्री जीवन आदि की समस्याओं तथा उनकी आशाओं, आकांक्षाओं को रचना के स्तर पर व्यक्त करना रहा है । यही कारण है कि वे आंचलिक कथाकार होने के बजाए सामाजिक यथार्थवाद के उपन्यासकार ठहरते हैं और शिल्प के स्तर पर रेणु से जुड़ने के बजाए प्रेमचंद से अधिक जुड़ते हैं । यद्यपि प्रेमचंद की तुलना में आंचलिकता की रंगत उसमें ज्यादा है । मैनेजर पाण्डेय ने सही लिखा है कि 'नागार्जुन के अनेक उपन्यासों में भी रचना की वास्तविक जमीन मिथिलांचल है । लेकिन उसके भीतर यथार्थ का चित्रण और रचनात्मक अभिप्राय की अभिव्यक्ति इस रूप में हुई है कि वह व्यापक भारतीय समाज के जनजीवन का चित्र बन जाता है । इसीलिए इनके उपन्यासों में प्रेमचंद से अधिक स्थानीयता है, लेकिन फणीश्वर नाथ रेणु जैसी नहीं है ।'[3] स्पष्ट है कि नागार्जुन सामाजिक यथार्थवादी ग्राम कथाकार हैं ।

नागार्जुन के उपन्यासों की रचना भूमि ग्रामीण जीवन का यथार्थ

है । उनके कथा साहित्य को पढ़कर ऐसा लगता है कि ग्रामीण जीवन का जितना व्यापक और गहरा अनुभव उनके पास है, वह संभवत: हिंदी के अन्य ग्राम कथाकारों के यहां नहीं है । विजय मोहन सिंह ने इस सम्बन्ध में लिखा है - 'नागार्जुन के पास ग्राम जीवन सम्बन्धी संरचनाओं तथा जानकारियों का अक्षय भण्डार है, वे उसके बहिरंग और अंतरंग को जितना जानते हैं, उसके सम्बन्ध में जितने ब्यौरे, आंकड़े और उसकी जीवन पद्धति की जितनी व्यापक विधि नागार्जुन के पास है, उतनी संभवत: रेणु के पास भी नहीं है । संदीप में 'कोठिला' में ग्राम जीवन का जितना कच्चा माल है, उतना हिन्दी केकिसी साहित्य व्यक्तित्व में नहीं मिलता ।'[4] ग्रामीण जीवन का इतना व्यापक अनुभव नागार्जुन के पास इसलिए है क्योंकि उन्होंने ग्रामीण जीवन को नजदीक से देखा है, उसे भोगा और जिया है ।

नागार्जुन के उपन्यासों के कथानक का आधार ग्रामीण जीवन और उससे जुड़े विभिन्न सन्दर्भ हैं । उनके उपन्यासों में जो कथानक चित्रित हुआ है , वह नागार्जुन की सतही दृष्टि या उनके किताबी ज्ञान की उपज नहीं है । नागार्जुन के उपन्यासों के कथानक लेखक की उस व्यापक अनुभव-क्रिया की उपज हैं, जिसे उसने ग्रामीण समाज और उस की सामाजिक प्रक्रिया में हिस्सेदारी करके प्राप्त किया है । स्वयं नागार्जुन ने स्वीकार किया है कि अपने उपन्यासों में उन्होंने आस-पास के समाज की कहानी कही है, जिसे उन्होंने स्वयं देखा भोगा है या फिर अपने दोस्तों-मित्रों से सुना है । 'बलचनमा' के सम्बन्ध में नागार्जुन ने कहा है -'हमारे गांवके जो भूमिहीन परिवार हैं, मैंने उनकी कहानी निकटता से महसूस करके लिखी है ।'[5] 'रतिनाथ की चाची' के सम्बन्ध में कई साक्षात्कारों में लेखक ने स्वीकार किया है कि इसमें चित्रित कहानी स्वयं लेखक के घरकी कहानी है जिसमें जयनाथ के रूप में वहां लेखक के पिता

मौजूद हैं, वहीं रतिनाथ के रूप में स्वयं नागार्जुन । वे कहते हैं -`साधन हीन अकिंचन ब्राह्मण पुत्र होने के नाते बचपन में बाध्यतापूर्वक संस्कृत पढ़ना आदि हमारे जीवन का प्राचीन अंश जो है, वह `रतिनाथ की चाची` में है ।`[6] इसके अलावा इस उपन्यास की उस घटना को, जिस में `रतिनाथ की बीमार मां बिस्तर पर लगान लेटी पड़ी है और बलनाथ रौद्र रूप धर कर बेचारी की छाती पर बैठा है ।हाथ में कुल्हाड़ी है और वह अपनी स्त्री का गर्दन रेतता जा रहा है । वह घिघिया रही है, लेकिन कोई भी इस नरमेध में हस्तक्षेप करनेवाला वहां मौजूद नहीं है... मां घिघियाती है ।`[7] नागार्जुन ने अपने जीवन की वास्तविक घटना कहा है और इसे अपने `पिता के प्रति` आजीवन `आक्रोश` का कारण बताया है । नागार्जुन ने जहां एक ओर अपने देखे हुए या भोगे हुए यथार्थ को कथानक बनाया है, वहीं अपने मित्रों से सुनी गई कहानियों के आधार पर भी `दुख मोचन` और `उग्र तारा` जैसे उपन्यासों को रचा है । कहने का तात्पर्य है कि नागार्जुन के उपन्यास अपने जीवन जगत की कहानियों पर आधारित हैं, यही कारण है कि वे अपनी पठनीयता में बहुत रोचक और मार्मिक लगते हैं । यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रचना में यथार्थ सीधे-सीधे नहीं चित्रित होता है, बल्कि वह रचनाकार की चेतना और विश्व दृष्टि से गुजर कर रचना में अभिव्यक्त होता है । इस प्रक्रिया में लेखक व्यापक अनुभवों में से अपने विवेक और विश्व दृष्टि के आधार पर कुछ को बतौर कथानक चुन लेता है और कुछ को छोड़देता है । नागार्जुन ने भी अपने देखे हुए अथवा भोगे हुए यथार्थ का यथातथ्य वर्णन नहीं किया है, बल्कि अपने विवेक और विश्व दृष्टि के आधार पर बहुत कुछ उसमें जोड़ा तोड़ा भी है । और, इस प्रक्रिया में कल्पना का रचनात्मक उपयोग भी किया है ।

कथानक की निर्मिति और उसके विकास में चरित्रों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । कथानक की भांति नागार्जुन के चरित्र भी उनके व्यापक सामाजिक अनुभवों की उपज हैं । उनके चरित्र अपने समाज और परिवेश के साथ गहरे स्तर पर जुड़े हुए हैं । वे हाड़-मांस के पुतले अथवा लेखक के हाथ का खिलौना बनकर नहीं, बल्कि अपने समाज और परिवेश के जीते-जागते संघर्षशील मनुष्य के रूप में चित्रित हुए हैं । वे सिर्फ लेखकीय वक्तव्य अथवा विचारधारा के संवाहक बनकर नहीं उभरते हैं । हालांकि इन चरित्रों पर लेखक की अपनी विचारधारा भी कहीं-कहीं हावी हो गई है, जिसकी ओर संकेत करते हुए मधुरेश ने लिखा है - "'वरुण के बेटे' में मुद्रांकित कम्युनिस्ट मोहन मांझी जैसे पात्र ही नहीं, कहीं कहीं मधुरी की भूमिका भी इसी आरोपित आदर्शवाद (लेखक की विचारधारा) और अति सरलीकरण का उदाहरण बनकर रह जाती है। 'बलचनमा' में भी ऐसे बहुत से स्थल आते हैं, जब बलचनमा की राजनीतिक सूझ-बूझ उसके चरित्र की विश्वसनीयता को क्षति पहुंचाती दिखाई देती है, क्योंकि उसकी निजी मानसिकता की अपेक्षाओं का ख्याल न करके लेखक उस पर अपनी समझ और मानसिकता को लाद देता है ।"[8] उनके उपन्यासों में ऐसे स्थल हैं, जहां लेखक की विचारधारा अथवा उसकी मानसिकता उसके चरित्रों पर हावी हो गई है, लेकिन समग्रता में देखें तो नागार्जुन के पात्र अपने समाज और परिवेश की उपज लगते हैं । और यह सच है कि लेखक के सभी चरित्र वहीं विश्वसनीय और मजबूत हो कर उभरे हैं जहां वे लेखक की मानसिकता में ढलकर नहीं, अपना विकास स्वयं करते हुए चित्रित हुए हैं ।बलचनमा, मधुरी, मोहन मांझी,तारा चरण और राधा बाबू जैसे पात्रों का विश्वसनीय और शक्तिशाली पक्ष उस जगह है जहां वे अपनी संघर्ष चेतना समाज और परिवेश से ग्रहण करते हैं । इन पात्रों की विश्वसनीयता उन जगहों पर क्षीण होती नजर आती है जब उनकी संघर्ष चेतना परिवेश से उपजने के बजाए लेखकीय हस्तक्षेप से उपजती है ।

नागार्जुन के चरित्र समाज और परिवेश से गहराई में जुड़े हुए हैं, इसलिए वे मानवीय गुण-दोषों से युक्त एक साधारण मनुष्य लगते हैं । ये पात्र साधारण होकर भी अपनी संघर्ष-चेतना और अपनी क्षमता में असाधारण हैं । उन्हें इस बात का बोध है कि उनके संघर्ष का मोर्चा क्या है अथवा उनके दोस्त या दुश्मन कौन-कौन से लोग हैं । 'चाची' जैसे कुछ पात्रों को अपवाद मान लिया जाए तो यह निर्विवाद है कि उनके पात्रों में गहरी वर्गीय चेतना विद्यमान है जिस से युक्त होकर वेअपने शोषण और शोषण करनेवालों के खिलाफ विद्रोह करते हैं । नागार्जुन के चरित्रों को यदि अपने शोषण का बोध है और साथ ही इसके खिलाफ विद्रोह करने की उनमें प्रबल चेतना विद्यमान है तो इसके पीछे कारण यह है कि लेखक अपने महत्वपूर्ण पात्रों से स्वयं जुड़ा हुआ है। लेखक ने स्वीकार किया है कि 'ये जो दुखमोचन है या जयनाथ है या मोहन माझी है, या हमारे जो अन्य पात्र हैं, उनमें मेरी कुछ-कुछ झांकियां मिल सकती हैं, लेकिन कोई एक समूचा पात्र ऐसा नहीं मिलेगा ।'[2] पात्रों में लेखक की अंशत: मौजूदगी के कारण ही वे इतनी प्रखर वर्गीय चेतना से लैस होकर संघर्ष-क्षेत्र में सक्रिय भागीदारी करते हैं । इन पात्रों की प्रमुख विशेषता यह है कि अपनी जीवन शैली में अत्यन्त साधारण होने के बावजूद ये असाधारण मुक्ति चेतना और संघर्ष-क्षमता का परिचय देते हैं । 'बलचनमा' का बलचनमा हो या 'वरुण के बेटे' के मोहन माझी, सुरसुन और मधुरी अथवा 'रतिनाथ की चाची' का ताराचरण - ये सभी अपनी जीवन शैली में अत्यंत साधारण होकर भी संघर्ष-क्षमता में असाधारण हैं । वे अपने को शोषण की चक्की में पिसने के लिए छोड़ नहीं देते हैं, बल्कि अपने शोषकों के खिलाफ विद्रोह करते हैं, मुखर विद्रोह । उदाहरण के लिए बलचनमा को जब किसानों के संघर्ष में भाग लेने पर धमकाया जाता है तो वह पहले की भांति इसे बर्दाश्त नहीं करता है । वह कड़े स्वर में अपनी मालिकाना की

धमकी का जवाब इन शब्दों में देता है, 'उनके बाप का घर है ?'[10] जो इसे फुंकवा देंगी । कलचनमा में यह क्रांतिकारी चेतना वहां बाद के दिनों में आती है, वहीं मधुरी में आरम्भ से ही विद्यमान रहती है । वैसे, नागार्जुन के स्त्री पात्र पुरुषों की तुलना में अधिक विद्रोही और संघर्षशील हैं। अपवाद सिर्फ 'चाची' है, जो सामंती मूल्यों और रूढ़ियों के शोषण चक्र में पिस कर टूट जाती हैं, फिर भी उनके मन में सामंती मूल्यों और व्यवस्था की क्रूरता के प्रति कहीं भी विद्रोह अथवा विरोध का स्वर नहीं फूटता है । विडंबना तो यह है कि वे उस व्यक्ति का नाम तक नहीं बताती हैं जो उनकी बदहाली के लिए जिम्मेदार है । लेकिन इससे यह सोचना गलत होगा कि नागार्जुन के सभी स्त्री चरित्र निरीह और कमजोर हैं । वस्तुत: जिस परिवेश और परिस्थिति में यह पात्र (चाची) रचा गया है, उसमें उसका यही रूप वास्तविक हो सकता है । यदि इसमें किसी तरह की आरोपित चेतना लगाकर उपन्यासकार उसे विद्रोही बना देता तो उस स्थिति में वह पाठकों पर संभवत: अपना अमिट छाप छोड़ने में समर्थ न हो सका होता। यदि बिना विद्रोह अथवा विरोध किए भी यह पात्र पाठकों की सहानुभूति अर्जित कर पाने में अथवा उन पर अपनी अमिट छाप छोड़ पाने में सफल हो सका है तो इसका एकमात्र कारण यही है कि उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपने समाज और परिवेश की सच्चाईयों के भीतर विकसित हुआ है । कुल मिलाकर, उनके स्त्री चरित्र बहुत सशक्त और विद्रोही बन कर उभरे हैं, और मधुरी इस बात की प्रमाण है ।

नागार्जुन के सभी चरित्रों की विशेषता यह है कि वे अपने पाठकों में गहरी पैठ बना लेते हैं ।उनके चरित्र संवेदना के स्तरपर आमआदमी से इतनी गहराई में जुड़े होते हैं कि उनमें हम अपने आसपास के व्यक्तियों की छवि देख सकते हैं । 'रतिनाथ की चाची' के गौरी में वहां ब्राह्मण

समाज की आम स्त्रियों की छवि उसके दुख दर्द के साथ चित्रित हुई है, वहीं `वरुण के बेटे ` की मथुरी में एक निम्नवर्गीय विद्रोही और प्रगतिशील स्त्री की छवि । इसी प्रकार `बलचनमा` के बलचनमा में निम्न-वर्गीय भूमिहीन किसान मजदूर के सुख-दुःख और आशाओं-आकांक्षाओं की छवि चित्रित हुई है, जबकि इसीउपन्यास के फूल बाबू में मध्य-वर्गीय नेताओं का घोमुंहा चरित्र चित्रित हुआ है । इसके अलावा नागार्जुन के अन्य चरित्रों में भी समाज के विभिन्न वर्ग के लोगों की जीवंत छवि देखी जा सकती है ।

शिल्प के स्तर पर नागार्जुन के उपन्यास बहुत सशक्त नहीं हैं । इसका प्रमुख कारण है कि उपन्यास लेखन और इसमें कला के उपयोग के प्रति वे कभी भी बहुत सावधान नहीं रहे ।उनके उपन्यासों की शिल्पगत सीमाओं पर आगे चर्चा होगी। फिलहाल नागार्जुन के उन कलात्मक पक्षों को देखना समीचीन होगा, जो लेखकीय लापरवाही के बावजूद उनके उपन्यासों में उभरे हैं । उनमें क्षमता का अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि कला के प्रतिलापरवाही के बावजूद उनके उपन्यासों में कई स्थलों पर कला का उत्कृष्ट प्रयोग हुआ है । भाषा और शैली के प्रयोग के मामले में नागार्जुन जहां रमे हैं, वहां उन्होंने अद्भुत लेखकीय क्षमता का परिचय दिया है ।

नागार्जुन के सभी प्रमुख उपन्यास वर्णनात्मक शैली में लिखे गये हैं । लेकिन उन्होंने अन्य शैलियों - जैसे, फैंटेसी और आत्मकथात्मक - में भी उपन्यास लिखे हैं । शोध के लिए प्रस्तावित उपन्यासों में `रतिनाथ की चाची` और `वरुण के बेटे` जहां वर्णनात्मक शैली में लिखे गये हैं, वहीं `बलचनमा` आत्मकथात्मक शैली में ।

वर्णनात्मक शैली कथा-साहित्य की सर्वाधिक पुरानी शैली है । इसमें लेखक कथा सामग्री का प्रत्यक्ष रूप से अथवा किसी पात्र के माध्यम

से प्रस्तुतीकरण करता है ।'रतिनाथ की चाची' में इस शैली का व्यापक उपयोग हुआ है । इस उपन्यास की नायिका 'चाची' (गौरी) कथा के केन्द्र में है । कथा इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती है । कथा-साहित्य की इस प्रचलित और पुरानी शैली का प्रयोग करते हुए नागार्जुन 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास की शुरुआत इस प्रकार करते हैं -'चैत का महीना था और शाम का वक्त । बीच आंगन में टोल-पड़ोस की औरतें जमा थीं । सभी किसी न किसी बातचीत में मशगूल थीं । दो-एक की गोद में बच्चा भी था ।...'एक थी जो बेकार और चुप बैठी थी । उसके चेहरे पर विषाद की काली छाया मंडरा रही थी । वह न तकली ही कात रही थी, न गोद में उसके कोई बच्चा ही था ।'[11] नागार्जुन की वर्णन क्षमता इसमें निहित है कि वे बिना किसी कलात्मक धौंस के, प्रभावोत्पादकता निर्मित करने में सफल रहे हैं । छोटे-छोटे वाक्यों में किया गया यह वर्णन बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के आसानी से समझ में आनेवाला है । 'रतिनाथ की चाची' की भांति 'वरुण के बेटे' में उन्होंने इसी शैली का प्रयोग करते हुए कथा-वर्णन की शुरुआत इस प्रकार की है --'केले के मोटे-मोटे थम्भ, कटे हुए । सात-आठ रहे होंगे । छे-छे हाथ लम्बे । एक दूसरे से सटाकर बांधे गये थे । अच्छी खासी नाव का काम दे रहे थे ।'[12] यहां भी लेखक अपने चिर-परिचित अंदाज में छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग से वर्णन को जटिल होने के खतरे से बचा पाने में समर्थ हो सका है ।

नागार्जुन ने इस शैली में लिखे उपन्यासों में कई जगह ग्रामीण-जीवन के व्यापक और सूक्ष्म अनुभवोंका परिचय दिया है ।उनके पास ग्रामीण जीवन सम्बन्धी जानकारियों का कितना विपुल भण्डार है इसका, और साथ में उनकी वर्णन क्षमता का भी परिचय उन स्थानों पर प्राप्त होता है जहां वे छोटी-छोटी चीजों, जैसे - गली-कूचों, मछलियों और आमों

की प्रजातियों, सवासों आदि पर लिख रहे होते हैं । यहां उल्लेखनीय है कि इन वर्णनों में जहां एक ओर लेखक की अनुभव-सम्पन्नता का परिचय मिलता है, वहीं इनका विस्तार पाठकों के लिए उबाऊ हो जाता है । उदाहरण के लिए, `रतिनाथ की चाची` का वह प्रसंग देख सकते हैं, जहां उपन्यासकार सवास की मालिश करने की कला का वर्णन करता है -`आप सो कर लेट जाइए । थकावट ज्यादा है । सवास आयेगा । हाथ में जरा-सी चिकनई (तेल) मलाकर आपके पैर से शुरू करेगा, एक-एक नस को मानोदुहता चला जायेगा । पैर, गोड़, टांग, जांघ, कमर, पीठ, पसलियां, गर्दन, कन्धे, सिर, माथा, कपाट, कनपटी, बांह, केहुनी, कलाई, हाथ पंजे - अंग-अंग की नसों को दुह लेगा । पंजे से पंजा लड़ाकर अंगुलियों के एक-एक पोर को चटकाकर अपने हाथ एक बार फिर आपके पैरों पर ले जाएगा। घुट्टियां चांपकर अंगुलियां (पैरों की) चटकाकर कुछ देर तक तलवे रगड़ता रहेगा और अंत में टांग, जांघ और कमर में हल्की मुक्कियां लगातारहेगा ।`[13] इतना बड़ा उद्धरण देने का अभिप्राय यह सांबित करना है कि नागार्जुन के वर्णनों में उनकी व्यापक अनुभव सम्पन्नता तो व्यक्त हुई है, पर इसके साथ ही इन लम्बे-लम्बे वर्णनों के कारण उनके उपन्यास कहीं कहीं उबाऊ हो गये हैं ।

शैली की दृष्टि से कलंकमा अन्य उपन्यासों से भिन्न है । यह `आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यासहै जिसमें कथा `उत्तम पुरुष` अर्थात् `मैं ` के माध्यम से कही जाती है । इसमें कथानायक स्वयंही अपनी कथा कहता चलता है । `कलंकमा` का कथा नायक इस प्रकार कथा कहता है -`बारह बरस की उम्र में मेरा बाप मर गया । परिवार में मां, दादी और छोटी बहन थी । नौ हाथ लम्बा, सात हाथ चौड़ा घर था - दो छप्परों वाला ।सामने छोटा सा आंगन था । बांई ओर आठ-दस घूट (बिंदवांसी) बाड़ी थी ।`[14] उद्धरण से स्पष्ट है कि इसमें कथा-नायक ही कथावाचक होता है । यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक

है कि लेखकीय लापरवाही की वजह से इसमें एक दोष आ गया है । दोष यह है कि कथानायक उन प्रसंगों का भी आंखों देखा हाल सुना जाता है जिनमें वह अनुपस्थित होता है । उदाहरण के लिए, रेवती के बलात्कार की असफल कोशिश के समय बलचनमा गांव से बाहर रहता है, बावजूद इसके वह पूरी घटना को ऐसे प्रस्तुत करता है, जैसे वह स्वयं उसका प्रत्यक्षदर्शी रहा हो ।

नागार्जुन के उपन्यासों की भाषा भी उनकी लेखकीय क्षमता का परिचय देती है । यद्यपि भाषा-प्रयोग के स्तर पर भी वे बहुत सजग नहीं दिखते हैं । उनकी कथा-भाषा के कई स्तर हैं, लेकिन समग्रता में उनके यहां जो भाषा प्रयुक्त हुई है, उसे विजयमोहन सिंह ने `निखालिस भदेसी भाषा` कहा है । उनकी भाषा के भदेसीपन का प्रमुख कारण यह है कि वे जिस जनता के लिए लिखते हैं, उसकी बौद्धिक क्षमता के अनुरूप लेखन में उसी की भाषा का प्रयोग करते हैं । उन्होंने भाषा के उस `भदेसीपन` का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि `हिन्दी में यदि किसानों के लिए, मजदूरों के लिए लिखते हैं तो भाषा को आसान करना पड़ता है, क्योंकि उनको समझाना है, अपनी बात को उन तक पहुंचाना है ।`[15] लेखक का अभिप्राय स्पष्ट है कि जिसके लिए उपन्यास लिखा जाता है, वह भाषा के स्तर पर उसके लिए सम्प्रेषणीय भी होना चाहिए । यहां नागार्जुन उन लेखकों से भिन्न हो जाते हैं जो किसानों मजदूरों का साहित्य विद्वानों की भाषा में लिखने के आग्रही होते हैं ।

नागार्जुन की इस `भदेसी` भाषा की विशेषता यह है कि वह रूप-विन्यास में अत्यंत साधारण होकर भी सर्जनात्मकता की दृष्टि से कमजोर नहीं है । उनकी भाषा की सर्जनात्मकता का परिचय वहां मिलता है, जहां वे भाषा के रूप में बिना किसी चमत्कारिक प्रयोग के भी

प्रभावोत्पादन करते हैं । उदाहरण के लिए `वरुण के बेटे ` के मोनड़ का यह कथन देख सकते हैं - `गरोसर का पानी मामूली पानी नहीं है, वह तो हमारे शरीर का लहू है । जिंगी का निचोड़ है ।`[16] इस पूरे वाक्य में शब्द प्रयोग की दृष्टि से कोई चमत्कार नहीं है । बावजूद इसके, लेखक इस वाक्य में अर्थ भरने में और प्रभावोत्पादन करने में पूरी तरह सफल हुआ है । `गरोसर के पानी` को मछुओं का `लहू ` कहकर लेखक ने `गरोसर` पर मछुओं के अस्तित्व की निर्भरता का रेखांकन किया किया है ।मतलब यह कि `गरोसर` का हाथ से निकल जाना, मछुओं के लहू निकल जाने के बराबर है, जिसके बिना उनका कोई अस्तित्व नहीं है ।

नागार्जुन की कथा भाषा के कई स्तर हैं । यद्यपि उनकी भाषा में विभिन्न भंगिमाओं का बहुत अधिक उपयोग नहीं हुआ, फिर भी उन के यहां नाटकीयता और संवाद धर्मिता के छिटपुट उदाहरण मिल जाते हैं । उनकी कथा-भाषा का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि वह पात्रों और प्रसंगों के अनुकूल प्रयुक्त हुई है। उनकी यायावरी वृत्ति का प्रभाव कथा-भाषा पर भी देखा जा सकता है । एक तरफ जहां उनकी भाषा में निखालिस `भदेसीपन` है, वहीं दूसरी ओर संस्कृ त की शुद्धतावादी भंगिमा भी बावजूद है । हालांकि, उन्होंने अपनी भाषा में संस्कृत की भंगिमा का अपेक्षाकृत कम प्रयोग किया है । नागार्जुन की कथा-भाषा `भदेसीपन` की सीमाओं को तोड़कर कई स्थलों पर बहुत शुद्ध और सुरुचि-पूर्ण आकार ग्रहण करती है । ऐसा अक्सर उन स्थलों पर होता है जहां लेखक मिथिला की प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्र खींचता है । इन स्थलों पर प्राय: उसका कवि रूप भी झांकने लगता है । उदाहरण के लिए, `रतिनाथ की चाची` का यह प्रसंग हम देख सकते हैं --`शरद ऋतु की चांदनी में नील निर्मेघ आकाश बिखरे नक्षत्रों की अपनी जमात के साथ कलुआहा पोखर के श्यामल वक्षस्थल पर जब प्रतिफलित हो उठता है, तो भिंड (भीट) पर बैठे हुए निपट निरक्षर दुखाध-सुखहड़ भी कवि की

तरह उसासें भरा करते । उन्हें जाने अपने जीवन की मधुमय घड़ियां एक-एक कर याद आतीं, ।'[1] एक अन्य प्रसंग में लेखक मिथिला की प्रकृति का चित्रण तराशी हुई भाषा में इस प्रकार करता है -- 'आगे खेतों में धान के हरे-हरे पौधे लहरा रहे थे । उनसे परे आमों के 'नील-निबिड़ कुंज' थे। उनसे भी परे सुदूर उत्तरी आकाश में हिमालय की धवल-धूमिल चोटियां थीं जो उगते सूरज की पीली किरणों से उद्भासित होकर स्वर्ण-शृंग-सी लग रही थीं । जयकिशोर ने इसी भांति यह दृश्य कई बार देखा है और यहीं बैठ कर, किन्तु आंखों को परितृप्ति नहीं हुई ।... वह कभी बिहार छोड़ बाहर नहीं गये, फिर भी अपनी मातृ-भूमि की प्रशंसा करते थकते नहीं । सुखदां सुफलां मलयम शीतलां पुल्ल कुसुमित द्रुमदल शोभिनीं ज्योत्स्ना - पुलकितयामिनीं सुहासिनीं सुमधुर भाषिणीं सुखदां वरदां - मातृभूमि की वंदना के लिए बंकिमचन्द्र ने इन विशेषणों का उपयोग किया है । जयकिशोर का दावा है कि हमारी मातृभूमि मिथिला भी ठीक इन्हीं विशेषणों की अधिकारिणी है ।'[17] यह लम्बा उद्धरण देने का अभिप्राय मात्र यह बतलाना है कि नागार्जुन ने जहां तन्मय होकर या ठहरकर वर्णन किया है, वहीं उन्होंने अपनी लेखकीय क्षमता का परिचय दिया है

उनकी कथा-भाषा में वातानुकूल और प्रसंगानुकूल शब्दों का शुद्ध रूप या भ्रष्ट रूप प्रयुक्त हुआ है । पात्रों के अनुकूल संवाद गढ़ने के लिए नागार्जुन ने हिन्दी के शब्दों का रूप भी बदला है । इस प्रक्रिया में लेखक ने दैशीय शब्दों और उसकी भंगिमा का भी प्रयोग किया है ।बलचनमा, मोहन माझी, फुल बाबू आदि पात्रों की भाषा में उनके परिवेश से जुड़े शब्दों का प्रयोग किया गया है । इन पात्रों के यहां हिन्दी का विभिन्न स्वरूप विद्यमान है ।'वरुण के बेटे' के एक बंगाली बाबू (रेलवे) के संवाद में हिन्दी, दैशीय भंगिमा में ढलकर एक नया स्वरूप धारण करती है ।

बंगाली `बाबू` कहता है कि `औधोन छेड़े दाओ (छोड़ दो), हियां (यहां)आ जाओ... हम डी. टी. एस. को फोन करता है... विहान (सुबह) मिलिटरी आयगा तब साब को लेसन देगा (भीड़ को सबक सिखायेगा) हुआं (वहाँ) जास्ती देर मत ठहरा (खड़ा) रहो रे बुड़बक (भोंदू)। .. मिलिटरी शैल रीच हीयर अरली इन द मार निंग... (मिलिटरी सुबह जरूर आ जायेगी यहां)`[18]। रेलवे के इस बंगाली बाबू की भाषा में पात्रानुकूल शब्द विन्यास और भंगिमा का प्रयोग हुआ है जिससे हिन्दी का नया रूप उभर कर सामने आया है।

नागार्जुन की कथा-भाषा का शक्तिशाली पक्ष उनके व्यंग्यों में दिखाई देता है। कविता के क्षेत्र में उन्हें बड़ा व्यंग्यकार माना जाता है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह ने लिखा है कि -`यह निर्विवाद है कि कबीर के बाद हिन्दी कविता में नागार्जुन से बड़ा व्यंग्यकार अभी तक कोई नहीं हुआ।`[19] ऐसा नहीं है कि नागार्जुन का व्यंग्यकार रूप सिर्फ उनकी कविताओं तक सीमित है, वे उपन्यास के क्षेत्र में भी बहुत बड़े व्यंग्यकार हैं। अपने उपन्यासों में उन्होंने विसंगतियों और विद्रूपताओं पर बहुत गहरा व्यंग्य किया है। `रतिनाथ की चाची` में अनमेल विवाह कराने वाले बिचौलिया भोला पंडित पर गहरा व्यंग्यकरते हुए नागार्जुन ने लिखा है -`असमर्थ व्यक्तियों के प्रति इस ब्राह्मण के हृदय में असीम करुणा थी। कितने ही लूले, लंगड़े, अन्धे, अपाहिज और बूढ़े भोला पंडित की कृपा से अधखिली कलियाँ - जैसी बालिकाओं को गृहलक्ष्मी के रूप में पाकर निहाल हो गये।... इस तरह पचीसों लड़कियां आपका नाम लेकर दक्खिन - पच्छिम के करम कूट रही थीं।... दस-पांच लड़कों को भी ठगने में पंडित ने सफलता पाई थी। किसी के पल्ले गूंगी पड़ी, तो किसी के पल्ले अंधी। किसी के पल्ले लंगड़ी पड़ी तो किसी

के पल्ले कुबड़ी ।'[20] उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि नागार्जुन के व्यंग्य में शक्ति और सर्जनात्मकता दोनों हैं ।

नागार्जुन की कथा-भाषा में स्थानीय, विशेष तौर पर मैथिली के शब्दों की बहुलता है । इसे देखकर अक्सर यह अनुमान लगा लिया जाता है कि नागार्जुन उपन्यासों में स्थानीय भाषा प्रयोग करने के आग्रही हैं । वस्तुत: वे कथा भाषा के रूप में स्थानीय भाषाओं के प्रयोग को एक सीमा तक छूट देते हैं । इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'हां, भाषा के बारे में मैं जरूर मानता हूं कि हम उसमें अगर अत्यधिक स्थानीय रंग भर दें तो यह पाठकों पर अत्याचार होगा । इससे बचना चाहिए ।'[21] लेकिन स्वयं लेखक के यहां स्थानीय भाषा का रंग कम गाढ़ा नहीं है और आश्चर्यजनक बात यह है कि उसे इसका बोध भी है । यही कारण है कि बाद के दिनों में लेखक ने अपने उपन्यासों में भाषा सम्बन्धी आवश्यक सुधार की बात स्वीकार की । इस क्रम में उन्होंने कहा कि 'हमने 'रतिनाथ की चाची' और 'कुंभनमा' के नये संस्करण में फुट-नोट हटा दिए हैं और बहुत सारे शब्दों के अन्दर समेट लिया है । और जो शब्द फिर भी रह गये, अंत में उनकी एक ग्लोसरी दे दी ।'[22] भाषा के प्रति इस दृष्टिकोण से जाहिर है कि नागार्जुन अपने उपन्यासों को आंचलिकता के रंग में रंगने के आग्रही नहीं हैं । वे अपने उपन्यासों को क्षेत्र विशेष की सीमाओं में सीमित कर देने की बजाए उसे व्यापक आधार देने का समर्थन करते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नागार्जुन में लेखकीय क्षमता मौजूद है, उनकी लापरवाही के बावजूद जो भाषा और शैली की उत्कृष्टता सामने आ कर आई है, वह इसका प्रमाण है ।

(ii) नागार्जुन के औपन्यासिक शिल्प की सीमाएं

शिल्प की दृष्टि से नागार्जुन के उपन्यास बहुत सशक्त नहीं हैं । इसका प्रमुख कारण यह है कि कला को लेकर लेखक में कोई खास जागरूकता नहीं दिखाई देती है । वैसे भी, नागार्जुन का मुख्य ध्यान कथ्य की तथ्यपरक व्यंजना पर केन्द्रित रहा है, उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति पर नहीं । लेखन में कला के उपयोग पर नागार्जुन का दृष्टिकोण है कि - 'कला आवश्यक है, लेकिन कला से भीज्यादा तथ्यपरक व्यंजना आवश्यक है ।'[23] आशय यहहै कि लेखक में कला आवश्यक है, लेकिन प्राथमिकता कथ्य की तथ्यपरक व्यंजना को मिलनी चाहिए । परन्तु, वास्तविकता इससे भिन्न है । नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में कला की प्राय: उपेक्षा की है । कला के प्रति यही उपेक्षा-भाव उनके उपन्यासों की सीमा बन गया है । विजय मोहन सिंह ने लिखा है कि 'उनके पास ग्राम जीवन संबंधी जानकारियों का जितना बड़ा जखीरा है, जिसमें गांवों का इतिहास भूगोल अर्थतन्त्र, पाखण्ड पुराण सभी कुछ सम्मिलित है, उस अनुपात में उसको प्रभावात्मक ढंग से रचनात्मक रसायन में ढाल पाने की प्रवृत्ति का अभाव है । क्षमता का अभाव है, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु जल्दी-जल्दी कुछ कह जाने की हड़बड़ी जरूर दिखती है ।'[24] नागार्जुन के यहां तन्मयता और ठहरकर विवेचन-विश्लेषण की प्रवृत्ति का अभाव है जिसके कारण उनकी औपन्यासिक कला लगभग उपेक्षित रही है । पीछे यह बताया जा चुका है कि लेखक ने तन्मयता केसाथ, ठहरकर जहां भी वर्णन किया है,वहां उसकी कला और क्षमता, दोनों का परिचय मिल जाता है । लेकिन ऐसे स्थल कम हैं जहां लेखक अपनी कला के प्रति जागरूक रहा है । 'जल्दी जल्दी में कुछ कह जाने की हड़बड़ी' - जो लेखक की प्रवृत्ति है, के कारण लेखक जहां प्रसंगों और घटनाओं के बीच संगति कायम रखने में कहीं-कहीं असफल हुआ है, वहीं वह पात्रों के चरित्रांकन

में भी गहरी दिलचस्पी नहीं दिखा पाया है । `बलचनमा` की जयमंगला हों अथवा `रतिनाथ की चाची` की सुशीला, लेखक इनके चरित्रांकन में कोई दिलचस्पी नहीं लेता है । इन चरित्रों को रचने के पीछे लेखकीय अभिप्राय भी स्पष्ट नहीं हो पाता है । जयमंगला जिस प्रकार उपन्यास में अकस्मात् उपस्थित होती है, उसी प्रकार अकस्मात् गायब भी हो जाती है । लेखक यदि इसका ठीक से चरित्रांकन करता और साथ में, उसे किसी निश्चित परिणति तक पहुंचाता तो यह चरित्र निश्चित तौर से सशक्त हो सकता था । लेकिन लेखक की लापरवाही के कारण जयमंगला और सुशीला, इसके अलावा अन्य कई चरित्र भी अपना पूर्ण विकास नहीं कर पाते हैं । नागार्जुन की लापरवाही के कारण कई घटनाएं और प्रसंग बिना किसी प्रयोजन, उपस्थित हो गये हैं और कई जगहों पर इन में असंगति भी आ गई है । `रतिनाथ की चाची` की इस असंगति की ओर संकेत करते हुए विजय मोहन सिंह ने सही सवाल उठाया है कि - `यद्यपि उपन्यास इस बात की कोई प्रासंगिकता या औचित्य नहीं सिद्ध करता कि जयनाथ आखिर काशी (वाराणसी) जाते ही क्यों हैं, सिवा इस बात के कि उपन्यासकार काशी का वर्णन, दिग्दर्शन और वहां के गली-कूचों, मंदिर, घाट और हाट-बाजार का वर्णन भी उपन्यास में डाल देना चाहता है ।`[25] तात्पर्य यह है कि इस तरह की लापरवाही नागार्जुन के उपन्यासों में भरपूर मात्रा मे विद्यमान है जो उनके कलात्मक कमजोरी का कारण है ।

जहां एक ओर कला के प्रति लापरवाही के कारण उनके उपन्यास शिल्प की दृष्टि से कमजोर हो गये हैं, वहीं विचारधारा के प्रति कहीं-कहीं अत्यधिक आग्रहशीलता के कारण भी वे कमजोर हुए हैं । जहां तक साहित्य में विचारधारा के उपयोग का सवाल है, तो वह निश्चित तौर से साहित्य में अपेक्षित है । परन्तु, उसका उपयोग किस रूप में

हो, उसकी परख भी आवश्यक है । साहित्य में विचारधारा के उपयोग पर कोई आपत्ति नहीं है । आपत्ति सिर्फ विचारधारा के प्रचारात्मक अथवा कृत्रिम उपयोग को लेकर है । क्योंकि विचारधारा के प्रचारात्मक उद्देश्य केलिए साहित्य की रचना करना, रचनशीलता के लिए बहुत खतरनाक है । विचारधारा का सार्थक अथवा मुक्तिसंगत प्रयोग साहित्य को गरिमावान बना सकता है जबकि उसका प्रचारात्मक उपयोग साहित्य के लिए खतरनाक हो सकता है । अमृत राय ने सही लिखा है कि सिर्फ विचारधारा का होना या न होना या किसी विशेष विचारधारा का होना साहित्य की श्रेष्ठता का स्वत: प्रमाण नहीं है । प्रमाण हर हालत में कृति होती है ।'[26] आशय यह है कि विचारधारा साहित्य का स्थानापन्न नहीं है । वह साहित्य की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता की जांच की एक मात्र कसौटी भी नहीं है ।

सवाल यह है कि साहित्य में विचारधारा का उपयोग किस रूप में हो ? स्पेन्सर ने हार्नेस को लिखे एक पत्र में कहा है -'रचनाकार की मान्यताएं जितनी छिपी हों, कलाकृति के लिए उतना ही अच्छा है ।'[27] अन्यत्र उन्होंने लिखा है -'उद्देश्य स्थिति एवं क्रियाकलाप के माध्यम से अभिव्यक्त होना चाहिए, न कि सीधे लेखकीय निर्देश से ।'[28] आशय यह है कि विचारधारा रचना-प्रक्रिया का अंग बाकर रचना में आनी चाहिए । रचना में वह स्वाभाविक स्थितियों और पात्रों के क्रिया-कलापों के माध्यम से व्यक्त होनी चाहिए, न कि लेखकीय वक्तव्यों और निर्देशों से । विचारधारा का उपयोग चरित्रों और घटनाओं में आरोपित ढंग से नहीं होना चाहिए, वह सहज रूप में रचना के भीतर रची-बसी होनी चाहिए ।

नागार्जुन, कुछ अन्तर्विरोधों के बावजूद वामपंथी विचारधारा से प्रतिबद्ध रचनाकार हैं । उन्होंने अपनी रचनाओं में, खास तौर से

उपन्यासों में इस विचारधारा का रचनात्मक उपयोग किया है । विचारधारा के उपयोग को लेकर एक हद तक उनमें संयम भी है, लेकिन कहीं-कहीं अति उत्साह में उनका संयम टूटता नजर आता है । इस प्रकार वे भी कहीं-कहीं प्रचार-बहुलता और अति सरलीकरण की प्रवृत्ति के शिकार हो जाते हैं । वामपंथी विचारधारा को महिमामंडित करने की जैसी भूख यशपाल, रांगेय राघव और राहुल सांकृत्यायन के लेखन में है, वैसी भूख नागार्जुन के लेखन में नहीं है । यही कारण है कि वे अपनी विचारधारा को स्थितियों, पात्रों में और उनके क्रिया-कलापों में ढाल कर प्रस्तुत करने में काफी हद तक सफल हो सके हैं और इसी कारण उनका साहित्य प्रचारधर्मी होने के खतरों से भी बच सका है । बावजूद, इसके अति उत्साह में कहीं-कहीं विचारधारा उनके ऊपर हावी हो गई है और सच बात तो यह है कि उनकी रचनाशीलता भी अधिकतर उन्हीं स्थलों पर क्षतिग्रस्त हुई है जहां उनकेऊपर विचार-धारा हावी हुई है।

विचारधारा और शिल्प के बीच संतुलन बना पाने में उनके उपन्यास कहीं-कहीं असफल हुए हैं । `रतिनाथ की चाची` में एक प्रसंग देख सकते हैं जिसमें लेखक पर विचारधारा का आग्रह बहुत तीव्र है । इस कारण वह उसे स्थितियों और घटनाओं में ढाल कर दिखाने के बजाए जबरदस्ती उपन्यास के भीतर आरोपित कर देता है । प्रसंग है - हिटलर द्वारा रूस पर आक्रमण । यह प्रसंग ताराचरण `चाची` को सुनाता है । हिटलर द्वारा रूस पर आक्रमण की खबर सुनकर चाची चौंकानेवाली बात कहती है --`कैसा दिमाग है दरिद्दर का । मुदा बच्चा बच्चा कट्टमरेगा, तभी रूस दखल होगा।`[29] रूस की जीत के प्रति ताराचरण जैसा समाजवादी आशंकित है जबकि चाची जैसी अनपढ़ और भयंकर समस्याओं से ग्रस्त देहाती

स्त्री इसके प्रति आश्वस्त दिखती हैं । वे कहती हैं -`मैं पढ़ी-लिखी नहीं हूं, मगर इतना समझती हूं कि पच्चीस साल से रूसवालों ने अपने यहां जो नया संसार बसाया है, उसके अन्दर जाकर राक्षसों की बड़ी-से-बड़ी फौज भी मात खा जाएगी... ।`[30] यदि पूरे औपन्यासिक परिवेश के परिप्रेक्ष्य में इस प्रसंग को देखा जाए तो सहज ही यह पूरा प्रसंग बनावटी लगता है । बनावटी इस अर्थ में कि इस उपन्यास में मुख्य रूप से जहां मिथिला के पिछड़े सामंती समाज में स्त्री जीवन की विडंबना का आख्यान प्रस्तुत किया गया है, वहीं इस राष्ट्रीय सन्दर्भ को सायास अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ से जोड़ने की फूहड़ लेखकीय कोशिश भी की गई है । इस अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ को रूस से जोड़ने के पीछे अभिप्राय साफ है। यहां नागार्जुन भी अन्य कई वामपंथी रचनाकारों की भांति रूस के गुणगान का लोभ नहीं त्याग पाये हैं । इसी लेखकीय अभिप्राय के कारण यह पूरा प्रसंग निर्मित हुआ है और `चाची` द्वारा रूस विजय की परिकल्पना भी की गई है । लेकिन चाची का रूस की विजय के प्रति आश्वस्त होना भी कम असहज प्रसंग नहीं लगता । कारण कि निजी समस्याओं से टूट चुकी अनपढ़ चाची का `रूस वालों का पचीस साल का बसाया गया नया संसार` जानना असहज और अवास्तविक तो लगता ही है, पर इसके साथ ही यह पात्र पर लेखकीय विचारधारा का आरोपण भी लगता है । आशय यह है कि यह पूरा प्रसंग ठोस तार्किक आधारों पर नहीं निर्मित किया गया है, बल्कि इसकी निर्मिति के पीछे लेखकीय आग्रह की महत्वपूर्ण भूमिका है ।

`रतिनाथ की चाची` की भांति `बलचनमा` में भी ऐसे अनेक प्रसंग मौजूद हैं, जिनमें लेखकीय ईमानदारी से अधिक महत्व विचारधारा को दिया गया है । वामपंथी विचारधारा से प्रतिबद्ध रचनाकारों के यहां शोषितों-पीड़ितों, दलितों और पिछड़ों के प्रति सहानुभूति और उच्च-वर्गीय लोगों के प्रति क्रोध अथवा घृणा का भाव पाया जाता है । उनकी

रचनाओं में कई बार तो स्वाभाविक रूप से ऐसी स्थितियां उपस्थित की जाती हैं, जिससे निम्नवर्गीय लोगों के प्रति सहानुभूति और उच्चवर्गीय लोगों के प्रति घृणा का भाव व्यक्त होता है, लेकिन कई बार लेखकीय हस्तक्षेप के माध्यम से भी ऐसे भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। ऐसे में रचनाशीलता को भी क्षति पहुंचती है। 'बलचनमा' में एक ऐसा प्रसंग है जिसमें नागार्जुन बिना किसी कार्य कारण सम्बन्ध के एक जमींदार की विधवा लड़की जयमंगला की शादी एक मुस्लिम दर्जी के साथ करवा देते हैं। शादीक्या। वह दर्जी उस विधवा लड़की को लेकर भाग जाता है। आपत्ति इससे नहीं है कि वे एक निम्नवर्गीय दर्जी की शादी जमींदार की विधवा बेटी से करा देते हैं। आपत्ति इस बात से है कि यह पूरा प्रसंग ही उपन्यास में अकस्मात् उपस्थित हो जाता है। दर्जी और जयमंगला के बीच किस प्रकार प्रेम विकसित होता है, इस प्रेम की परिणति क्या होती है? वह दोनों कहां भाग जाते हैं, फिर भागने के बाद समाज का किस तरह सामना करते हैं? इन सारे बिन्दुओं पर लेखक ने कोई विचार नहीं किया है। उसकी दिलचस्पी सिर्फ एक दर्जी द्वारा उच्च वर्गीय जमींदार की बेटी को भगाने तक सीमित है। ऐसा करके नागार्जुन ने निम्नवर्गीय लोगों के प्रति अपनी आत्मीयता तो जता दी है, लेकिन इस प्रसंग की अकस्मात उपस्थिति और बिना किसी परिणति के ही इसेउपन्यास से गायब करके, उन्होंने उपन्यास की रचनाशीलता को क्षति पहुंचाई है, ऐसे वैचारिक आग्रहों के कारण अनेक प्रसंगों में उनकी रचनाशीलता क्षतिग्रस्त हुई है, जिसके कारण उनके उपन्यासों की संरचना भी प्रभावित हुई है।

आशय यह है कि उपन्यास लेखन में जिस गंभीरता और तन्मयता की अपेक्षा होती है, उसका नागार्जुन में अभाव है। जल्दी जल्दी कुछ कह जाने की हड़बड़ी के कारण उनकेउपन्यासों में शिल्प के स्तर पर कुछ कमियाँ आ गई हैं।

उनके उपन्यासों की कमजोरी का कारण यह भी है कि वे अपने लेखन में संवेदना को तरजीह देते हुए कला को प्राय: उपेक्षित रखते हैं । इन्हीं कारणों से शिल्प के स्तर पर उनके उपन्यास कमजोर लगते हैं ।

संदर्भ

1. नन्ददुलारे वाजपेयी, राष्ट्रीय साहित्य, पृ0 57
2. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 50
3. मैनेजर पाण्डेय, परिसंवाद - कल के लिए, भाग 1 (नागार्जुन विशेषांक) दिस. 1995, पृ0 29
4. विजय मोहन सिंह, नागार्जुन केउपन्यास : ग्राम जीवन के अर्ध-विराम - हंस (उपन्यास विशेषांक), जन 1999, पृ0 131
5. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 49
6. वही
7. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 28
8. मधुरेश, नागार्जुन के उपन्यास - आलोचना, जुलाई-सितम्बर 1972, पृ0 51
9. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 49
10. नागार्जुन, कुलचनमा, पृ0 163
11. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 5
12. नागार्जुन, वरुण के बेटे, पृ0 5
13. नागार्जुन,रतिनाथ की चाची, पृ0 129-30
14. नागार्जुन, कुलचनमा, पृ0 5
15. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 46
16. नागार्जुन, वरुण के बेटे, पृ0 27
17. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ0 38
18. नागार्जुन, वरुण के बेटे, पृ0 80

19. सं० नामवर सिंह, प्रतिनिधि कविताएं (नागार्जुन), पृ० 9
20. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ० 65
21. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ० 51
22. वही
23. वही, पृ० 52
24. विजय मोहन सिंह, नागार्जुन के उपन्यास : ग्राम जीवन के अर्ध-विराम - हंस (उपन्यास विशेषांक) जन. 1999, पृ० 131
25. वही
26. अमृतराय, विचारधारा और साहित्य, पृ० 64
27. मार्क्स एण्ड एंगेल्स, आन लिट्रेचर एण्ड आर्ट, पृ० 143
28. वही
29. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, पृ० 150
30. वही

अध्याय - 4 : नागार्जुन : एक आलोचनात्मक विश्लेषण

(i) कवि बनाम उपन्यासकार

(ii) उपन्यासकार नागार्जुन का महत्व

सामान्यत: नागार्जुन को हिन्दी का महत्वपूर्ण कवि माना जाता है, उपन्यासकार नहीं । दूसरे शब्दों में कहा जाए तो, हिन्दी जगत् में एक कवि के रूप में नागार्जुन को जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त है, वैसी प्रतिष्ठा एक उपन्यासकार के रूप में नहीं । विधिवत् समीक्षा अथवा आलोचना की दृष्टि से भी उनका कथा-साहित्य लगभग उपेक्षित रहा है । विडंबना तो यह है कि उनके कवि रूप के समर्थ आलोचकों ने भी उनके उपन्यासों की कोई खास `नोटिस` लेने की जरूरत नहीं समझी । यह अनायास नहीं है कि कुछ छिटपुट लेखों और शोध-प्रबन्धों को छोड़कर उनके उपन्यासों पर कुछ खास नहीं लिखा गया है, जो थोड़ा बहुत लिखा भी गया है वह प्रामाणिकता और महत्व की दृष्टि से अत्यंत साधारण कोटि का है । समीक्षा जगत् की विडंबना यह भी है कि वह किसी रचनाकार का संपूर्ण मूल्यांकन करने के बजाए ठप्पा लगाता है ।इस ठप्पा के शिकार नागार्जुन भी रहे हैं ।एक बार जब समीक्षा जगत् ने उन्हें `जनकवि` के रूप में मान्यता दे दी, तो फिर उनके उपन्यासकार के मूल्यांकन की कोई जरूरत ही नहीं समझी गई, या समझी भीगई तो बहुत सीमित अर्थों में । ऐसा नहीं है कि सिर्फ नागार्जुन इस समीक्षा पद्धति के शिकार हुए हैं । निराला सहित अनेक रचनाकार इस समीक्षा पद्धति के शिकार होने वालों में हैं, जिनका कवि रूप तो बहुत चर्चित हुआ, लेकिन कथाकार रूप प्राय: उपेक्षित रहा । इस दृष्टि से अज्ञेय सौभाग्यशाली रहे जिन्हें समीक्षा जगत् ने कवि और कथाकार दोनोंरूपों में समान रूपसे प्रतिष्ठित किया । अज्ञेय जैसे कुछ-एक रचनाकारों को छोड़कर शेष अधिकांश रचनाकारों का कवि रूप जहां समीक्षा की दृष्टि से प्रतिष्ठित हुआ, वहीं गद्यकार रूप प्राय: उपेक्षित रहा ।

यदि समीक्षा की दृष्टि से नागार्जुन का उपन्यासकार रूप लगभग उपेक्षित रहा तो इसके कारणों की खोज आवश्यक है । क्यों उन्हें कवि

के रूप में जैसी ख्याति मिली, वैसी उपन्यासकार के रूप में नहीं ? क्या उनके उपन्यासकार को उपेक्षित रखने का सारा दोष समीक्षा जगत् को जाता है ? अथवा अपने उपन्यासकार के प्रति लापरवाही के कारण नागार्जुन स्वयं इसकेलिए दोषी हैं ? ~~इन सवालों पर विचार करते हुए लापरवाही के कारण नागार्जुन स्वयं इसके लिए दोषी हैं ?~~ इनसवालों पर विचार करते हुए अक्सर ऐसा लगता है कि नागार्जुन के उपन्यासकार को अपेक्षित ख्याति न मिलने के लिए जितना समीक्षा जगत दोषी है, स्वयं लेखक की उससे कम दोषी नहीं है । कारण कि स्वयं नागार्जुन यायावर वृत्ति के कारण उपन्यास-लेखन के प्रति कभी भी गंभीर नहीं रहे ।उपन्यासों के प्रति उनकी उदासीनता अथवा लापरवाही का सबसे बड़ा प्रमाण है, उनके उपन्यासों की शिल्पगत कमजोरियां जिन्हें लेखक अपनी थोड़ी सी लेखकीय गंभीरता और तन्मयतासे दूर कर सकता था । सवाल यह है कि उपन्यास लेखन के प्रति लेखक की लापरवाही अथवा उदासीनता का मूल कारणक्या है ? क्या उपन्यास लेखन उनका `प्रकृत पथ` नहीं है अथवा उनमें उपन्यास लेखन की क्षमता का अभाव है ? पहले सवाल पर चर्चा आगे होगी, फिलहाल यह विचारणीय है कि क्या सचमुच उनमें क्षमता का अभाव है । नागार्जुन में क्षमता का अभाव है, या उन्होंने उपन्यास किसी मजबूरी में लिखा, यह मान लेना निश्चित तौर से नागार्जुन के उपन्यासकार के साथ अन्याय करना होगा ।`रतिनाथ की चाची`,`बलचनमा` और `वरुण के बेटे` जैसे उपन्यासों को पढ़कर क्या कोई बुद्धिजीवी उनकी कथा-लेखन की क्षमता पर प्रश्न चिह्न लगा सकता है ? यदिऐसा होता तो नागार्जुन के उपन्यासकार की संभावना और क्षमता के कायल हिन्दी के समर्थ आलोचक डा० रामविलास शर्मा उन्हें `हिन्दी का यशस्वी उपन्यासकार` नहीं मानते । डा० शर्मा ने नागार्जुन की औपन्यासिक क्षमता को पहचानते हुए जहां उन्हें अपनी पुस्तक `भारतेन्दु हरिश्चन्द्र `समर्पित किया, वहीं

उन्हें प्रेमचंद की परंपरा से भी जोड़ा है । उन्होंने लिखा है कि 'नागार्जुन, अमृतलाल नागर, राजेन्द्र यादव आदि की कृतियां उसी स्वस्थ मार्ग पर हिन्दी कथा साहित्य को बढ़ा रही हैं, जिसका निर्माण प्रेमचंद ने किया था । ये सभी लेखक समाज में फैली हुई वीभत्सता को उघाड़ कर पाठक को तिलमिला देते हैं, साथ ही अपने-अपने ढंग से मानव-जीवन में आस्था भी उत्पन्न करते हैं ।'[1] नागार्जुन के महत्व का रेखांकन इस बात से होता है कि प्रेमचंद की परंपरा से जिन लोगों को डा० रामविलास शर्मा ने जोड़ा है, उनमें सर्वाधिक अग्रणी नाम नागार्जुन का है । नागार्जुन की औपन्यासिक क्षमता की पहचान और उनके महत्व का रेखांकन करने वाले आलोचकों में डा० शिवकुमार मिश्र और मैनेजर पाण्डेय जैसे आलोचक भी हैं, जिन्होंने उन्हें प्रेमचंद की परंपरा से जोड़कर देखा है और उन्हें किसानों, दलितों और स्त्रियों का समर्थक कहा है । कहने का तात्पर्य है कि नागार्जुन के 'यशस्वी उपन्यासकार' की जो आरंभिक पहचान डा० रामविलास शर्मा ने की थी, वह बाद के दिनों में भी आलोचकों के बीच कायम रही । कभी कुछ दिनों पहले प्रकाशित 'उद्भावना' के नागार्जुन विशेषांक में डा० कुंवरपाल सिंह ने भी इन्हीं आलोचकों की भांति उन्हें प्रेमचंद की परम्परा से जोड़ते हुए उनके महत्व का रेखांकन इस प्रकार किया है --'वे (नागार्जुन) हिन्दी के उन यथार्थवादी उपन्यास-कारों में हैं जो भारतीय समाज का पर्त दर पर्त उद्घाटन करते हैं । उनकी चिंता प्रेमचंद की तरह साधारण जन की मुक्ति है । उनका विचार है कि आर्थिक और राजनीतिक सम्बंधों के बिना सामाजिक परिवर्तन संभव नहीं है ।... उनका लेखन सामाजिक परिवर्तनों का एक सशक्त माध्यम है ।... उनका साहित्य यथार्थवादी चिंतन की सशक्त परंपरा का विस्तार और विकास करता है ।'[2] उपर्युक्त आलोचकों की राय जान कर और नागार्जुन के उपन्यासों को पढ़कर सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि नागार्जुन में क्षमता का अभाव नहीं था, उनमें उपन्यास लेखन की क्षमता बहुत थी । सवाल यह है कि यदि नागार्जुन केवल उपन्यास-लेखन की क्षमता थी तो क्यों नहीं उनके उपन्यास हिन्दी में गोदान, मैला आंचल आदि उपन्यासों की तरह महत्व पा सके ? इसका जवाब हो

सकता है कि शिल्प के स्तर पर कमजोर होने के कारण उनके उपन्यास हिन्दी में उतना महत्व नहीं पा सके जितना महत्व उन्हें मिलना चाहिए था । फिर, सवाल यह है कि नागार्जुन के उपन्यास यदि शिल्प की दृष्टि से कमजोर हैं तो क्या यह मान लिया जाए कि उपन्यास लेखन उनका 'प्रकृत-पथ' नहीं है, जैसा कि विजय मोहन सिंह का मानना है - 'संभवत: उपन्यास लेखन नागार्जुन का 'प्रकृत पथ' या विधा नहीं है । और यह भी कि वे स्वयं उपन्यास-लेखन को बहुत गंभीरता से लेते हुए प्रतीत नहीं होते ।'[3] जहां तक उपन्यास लेखन को गंभीरता से लेने की बात है तो निश्चित तौर से वे उस विधा के प्रति अधिक गंभीर नहीं हैं, जिसका एकमात्र कारण है कि यह विधा उनकी यायावर वृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल थी । यदि कविता लिखना नागार्जुन की पहली पसंद है, उसका भी कारण यही है कि यह विधा उनकी यायावर वृत्ति के अनुकूल है । क्यों गद्य (कथा साहित्य) को छोड़कर उन्हें पद्य लेखन करना पड़ा, इस सम्बन्ध में नागार्जुन ने कहा है -'पद्य टेक्निकल सुविधा है । गद्य में जमकर, बैठकर लिखना होता है, जबकि कविता में ऐसा नहीं है ।'[4] नागार्जुन के कथन से स्पष्ट है कि उपन्यास लेखन में 'जमकर' और 'बैठकर' लिखने की जो अपेक्षा होती है, वह उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं है, इसीलिए उन्होंने काव्य लेखन का रास्ता चुन लिया । इस कथन से इस सवाल का भी जवाब मिल जाता है कि क्यों उनके उपन्यास लेखन में तन्मयता और गंभीरता का अभाव है और क्यों उनमें कुछ जल्दी जल्दी कह जाने की हड़बड़ी दिखती है ।यही उनकी उपन्यासों की शिल्पगत सीमाओं का भी कारण रहा है ।

सवाल अब भी सामने है कि क्या उपन्यास लिखना नागार्जुन का 'प्रकृत पथ' नहीं था ? यदि कविता लिखना ही नागार्जुन का 'प्रकृत पथ'

मान लिया जाए तो सवाल यह उठता है कि नागार्जुन ने उपन्यास लिखा ही क्यों ? किसी मजबूरी में उन्होंने उपन्यास लिखा या उस संवेदना को रचनात्मक अभिव्यक्ति देने केलिए, जिसे उन्होंने एक कथाकार की हैसियत से अपने समय और समाज से अर्जित किया था ? इस सवाल का स्वयं नागार्जुन के पास कोई स्पष्ट जवाब नहीं है । किन कारणों से वे काव्य लेखन छोड़ कर उपन्यास के क्षेत्र में आये, इस सम्बन्ध में उनकी दो राय हैं । फिलहाल पहली राय की चर्चा होगी ।उनकी राय है कि आर्थिक आवश्यकताओं ने उन्हें गद्य (कथा-साहित्य) लिखने पर मजबूर कर दिया । वे कहते हैं -'लगा खाली कविता लिखने से काम नहीं चलेगा । दूध वाले का पेमेंट कविता से नहीं होता ।'[5] अन्यत्र, 'कवि और कथाकार के सन्दर्भ में तो यह सच है कि मेरा कवि पक्ष ही ज्यादा सबल रहा । मैंने बहुत जल्दी यह डिसाइड कर लिया था कि अगर चार पैसा कमाना है तो गद्य का सहारा लेना होगा ।'[6] यह सच है कि नागार्जुन के जीवन का अधिकांश हिस्सा आर्थिक मोर्चों पर संघर्ष करते हुए व्यतीत हुआ । वे आजीवन आर्थिक समस्याओं से जूझते रहे । और उनका लेखन भी एक सीमा तक आर्थिक जरूरतों को पूरा करने के लिए हुआ । उन्होंने जो अनुवाद किया, बालसाहित्य लिखा, संपादन किया या कथा साहित्य लिखा, उसके पीछे अर्थोपार्जन भी एक उद्देश्य था । यह सच है कि आर्थिक जरूरतों का एक अंश पूरा करने केलिए नागार्जुन ने कथा साहित्य लिखा । लेकिन यह स्वीकार करना बहुत कठिन है कि मात्र आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्होंने संपूर्ण कथा साहित्य लिखा । नागार्जुन जैसे प्रगतिशील लेखक के सम्बन्ध में, जिसका सम्पूर्ण कथा साहित्य किसानों, मजदूरों, स्त्रियों और शोषितों-पीड़ितों की आवाजको व्यक्त करता है, ऐसा मानना नागार्जुन के साथ अन्याय करना होगा। यदि मजबूरी में यह मान लिया जाए कि मात्र आर्थिक जरूरतों की वजह से उनका उपन्याससाहित्य लिखा गया तो

सवाल यह पैदा होता है कि यदि नागार्जुन आर्थिक अभावों में नहीं होते तो क्या उनके उपन्यास भी नहीं लिखे गये होते ? या लिखे भी गये होते तो कविता के रूप में । क्योंकि कविता करना उनका 'प्रकृत पथ' है । यदि ऐसा होता तो 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा' और 'वरुण के बेटे' जैसे उपन्यासों की रचना नहीं हुई होती । फिर, इस स्थिति में उस लेखकीय संवेदना का क्या होता, जिसे नागार्जुन ने एक उपन्यासकार के रूप में अपने समय और समाज से अर्जित किया था । इस सम्वेदना को न तो एक कवि अर्जित कर सकता था और न ही इसे कविता में अभिव्यक्त किया जा सकता था । नागार्जुन का 'प्रकृत पथ' उपन्यास लेखन था, इसीलिए उन्होंने समाज के भीतर से ऐसी संवेदना अर्जित की थी । नागार्जुन एक संवेदनशील उपन्यासकार हैं, यही कारण है कि वे आसपास की दुनिया की हलचलों से कभी भी बेखबर नहीं रहे । उन्होंने आसपास के समाज और परिवेश के जीवन और उसकी विसंगतियों को एक उपन्यासकार की हैसियत से देखा है और उन्हें अपने उपन्यासों में व्यक्त किया है ।नागार्जुन की वे वर्तमान स्थितियां - जिनके बोध ने कुछ लिखने के लिए उद्वेलित किया, बहुत हद तक उनके उपन्यास लेखन के जिम्मेदार हैं, न कि आर्थिक जरूरत । राल्फ फाक्स ने उपन्यास-कार की गहरी संवेदनशीलता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "क्या कोई उपन्यासकार इस दुनिया की समस्याओं से, जिसमें कि वह रहता है, बेखबर रह सकता है ? क्या वह युद्ध की तैयारियों के शोर-शराबे की ओर से अपना कान बन्द कर सकता है ? क्या वह अपने देश की स्थिति की ओर से अपनी आंखें मूंद सकता है? क्या वह उस समय अपना मुंह बन्द रख सकता है, जबकि चारों ओर किलकिला मंडरा रही हो और व्यक्तिगत लालसा को अक्षुण्ण रखने के लिए वर्गबद्ध राज्य के नाम पर जीवन को दो जून रोटियों से भी वंचित किया जा रहा हो ?"[7] राल्फ फाक्स ने जिन सवालों को उठाकर उपन्यासकार की संवेदनशीलता

का रेखांकन किया है, वे निश्चय ही उपन्यासकार को मथने वाले होते हैं । उपन्यासकार स्वाभाविक रूप से अपने समय और समाज के सवालों से टकराता है, वह इन सवालों से बच कर उपन्यासकार नहीं रह सकता है ।

उपर्युक्त बातों से निष्कर्ष निकलता है कि नागार्जुन का उपन्यासकार उनका 'प्रकृत पथ' था । उन्होंने उपन्यास समाज और परिवेश की वर्तमान विसंगतियों से उद्वेलित होकर, वर्तमान सवालों से टकराकर लिखा न कि आर्थिक जरूरतों को पूरा करने के उद्देश्य मात्र से । लेकिन ऐसा मान लेने से नागार्जुन के उस वक्तव्य का क्या होगा जिसमें उन्होंने स्वीकार किया है कि उनका गद्य लेखन (कथा साहित्य) आर्थिक जरूरतों की पूर्ति के उद्देश्य से हुआ है । यहां उल्लेखनीय है कि कई बार लेखकीय वक्तव्य तात्कालिक परिस्थितियों की उपज होते हैं, इसलिए वे वास्तविक लेखकीय अभिप्राय को जानने के लिए बहुत विश्वसनीय और प्रामाणिक नहीं होते हैं । लेखकीय अभिप्राय को जानने के लिए लेखक के तात्कालिक वक्तव्यों पर विश्वास करने से बेहतर होगा कि उसकी रचनाओं पर भरोसा किया जाए । लेखकीय अभिप्राय को जानने का सबसे विश्वसनीय और प्रामाणिक स्रोत लेखक की रचनाएं होती हैं, जिनमें लेखक के समूचे विचार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से विद्यमान होते हैं । इस सम्बन्ध में लेखक की रचनाओं पर भरोसा करना इसलिए भी उपयुक्त होता है कि इनमें लेखक के वे विचार भी जाने-अनजाने व्यक्त हो जाते हैं जो उसके अवचेतन में होते हैं । शमशेर ने सही लिखा है --

'बात बोलेगी,
हम नहीं ।
भेद खोलेगी
बात ही ।'[7]

आशय यह है कि लेखक के मूल अभिप्राय को जानने के लिए उसकी 'बात ही' अर्थात् रचनाओं पर भरोसा करना सर्वथा उचित होगा । इस

दृष्टि से नागार्जुन के अभिप्राय की जानकारी उनकी रचनाओं से प्राप्त की जा सकती है । नागार्जुन के उपन्यास जिस अभिप्राय से लिखे गये हैं, वे स्वयं उसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं । नागार्जुन का पहला उपन्यास `रतिनाथ की चाची` है, जो उनके अपने घर कहानी को आधार बनाकर लिखा गया है । तात्पर्य यह है कि नागार्जुन ने अपने समाज और घर के परिवेश में जो कुछ देखा था - एक उपन्यासकार की दृष्टि से, वह उन्हें उद्वेलित करनेवाला था । उन्होंने इस उपन्यास में ब्राह्मण समाज की जिस सामंती मानसिकता औररूढ़ियों की पोल खोली है, वह उनकी वर्तमान परिस्थितियों से असंतुष्टि और इसके प्रति मुखर प्रतिरोध का द्योतक है । जाहिर है कि एक उपन्यासकार अपनी वर्तमान परिस्थितियों से असन्तुष्ट होकर अपनी आँखें नहीं बन्द कर लेता है, बल्कि वह उनका मुखर विरोध करता है और इसी प्रक्रिया में उसकी रचना भी उपजती है ।

नागार्जुन के उपन्यासों में वर्तमान जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं के प्रति जो चिन्ता और समतापरक भविष्य की आकांक्षा व्यक्त हुई है, वह इसका प्रमाण है कि उन जैसे लेखकों का कथा-साहित्य मात्र आर्थिक जरूरतों की पूर्ति के लिए नहीं लिखा जाता है । `रतिनाथ की चाची` की भांति `बलचनमा` के बारे में उन्होंने स्वीकार किया है कि इसकी कथा उनके गांव के एक निम्नवर्गीय भूमिहीन किसान के जीवन पर आधारित है । अन्य उपन्यासों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि उनके कथानक का आधार उनका देखा या भोगा हुआयथार्थ है या फिर अपने मित्रों द्वारा सुनाया गया यथार्थ । उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कोई सुनी हुई अथवा देखी हुई घटना उनके मस्तिष्क में तब तक अंकित रहती है, जब तक कि वह रचना के रूप में अभिव्यक्ति नहीं पा लेती । आशय यह है कि कथा-लेखन नागार्जुन केउपन्यासकार व्यक्तित्व की मजबूरी थी, न कि कोई आर्थिक मजबूरी । वैसे भी, यदि नागार्जुन

का रेखांकन किया है, वे निश्चय ही उपन्यासकार को मथने वाले होते हैं । उपन्यासकार स्वाभाविक रूप से अपने समय और समाज के सवालों से टकराता है, वह इन सवालों से बच कर उपन्यासकार नहीं रह सकता है ।

उपर्युक्त बातों से निष्कर्ष निकलता है कि नागार्जुन का उपन्यासकार उनका 'प्रकृत पथ' था । उन्होंने उपन्यास समाज और परिवेश की वर्तमान विसंगतियों से उद्वेलित होकर, वर्तमान सवालों से टकराकर लिखा न कि आर्थिक जरूरतों को पूरा करने के उद्देश्य मात्र से । लेकिन ऐसा मान लेने से नागार्जुन के उस वक्तव्य का क्या होगा जिसमें उन्होंने स्वीकार किया है कि उनका गद्य लेखन (कथा साहित्य) आर्थिक जरूरतों की पूर्ति के उद्देश्य से हुआ है । यहां उल्लेखनीय है कि कई बार लेखकीय वक्तव्य तात्कालिक परिस्थितियों की उपज होते हैं, इसलिए वे वास्तविक लेखकीय अभिप्राय को जानने के लिए बहुत विश्वसनीय और प्रामाणिक नहीं होते हैं । लेखकीय अभिप्राय को जानने के लिए लेखक के तात्कालिक वक्तव्यों पर विश्वास करने से बेहतर होगा कि उसकी रचनाओं पर भरोसा किया जाए । लेखकीय अभिप्राय को जानने का सबसे विश्वसनीय और प्रामाणिक स्रोत लेखक की रचनाएं होती हैं, जिनमें लेखक के समूचे विचार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से विद्यमान होते हैं । इस सम्बन्ध में लेखक की रचनाओं पर भरोसा करना इसलिए भी उपयुक्त होता है कि इनमें लेखक के वे विचार भी जाने-अनजाने व्यक्त हो जाते हैं जो उसके अवचेतन में होते हैं । शमशेर ने सही लिखा है --

'बात बोलेगी,
हम नहीं ।
भेद खोलेगी
बात ही ।'[7]

आशय यह है कि लेखक के मूल अभिप्राय को जानने के लिए उसकी 'बात ही' अर्थात् रचनाओं पर भरोसा करना सर्वथा उचित होगा । इस

दृष्टि से नागार्जुन के अभिप्राय की जानकारी उनकी रचनाओं से प्राप्त की जा सकती है । नागार्जुन के उपन्यास जिस अभिप्राय से लिखे गये हैं, वे स्वयं उसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं । नागार्जुन का पहला उपन्यास `रतिनाथ की चाची` है, जो उनके अपने घर कहानी को आधार बनाकर लिखा गया है । तात्पर्य यह है कि नागार्जुन ने अपने समाज और घर के परिवेश में जो कुछ देखा था - एक उपन्यासकार की दृष्टि से, वह उन्हें उद्वेलित करनेवाला था । उन्होंने इस उपन्यास में ब्राह्मण समाज की जिस सामंती मानसिकता और रूढ़ियों की पोल खोली है, वह उनकी वर्तमान परिस्थितियों से असंतुष्टि और इसके प्रति मुखर प्रतिरोध का द्योतक है । जाहिर है कि एक उपन्यासकार अपनी वर्तमान परिस्थितियों से असन्तुष्ट होकर अपनी आँखें नहीं बन्द कर लेता है, बल्कि वह उनका मुखर विरोध करता है और इसी प्रक्रिया में उसकी रचना भी उपजती है ।

नागार्जुन के उपन्यासों में वर्तमान जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं के प्रति जो चिन्ता और समतापरक भविष्य की आकांक्षा व्यक्त हुई है, वह इसका प्रमाण है कि उन जैसे लेखकों का कथा-साहित्य मात्र आर्थिक जरूरतों की पूर्ति के लिए नहीं लिखा जाता है । `रतिनाथ की चाची` की भांति `बलचनमा` के बारे में उन्होंने स्वीकार किया है कि इसकी कथा उनके गांव के एक निम्नवर्गीय भूमिहीन किसान के जीवन पर आधारित है । अन्य उपन्यासों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि इनके कथानक का आधार उनका देखा या भोगा हुआ यथार्थ है या फिर अपने मित्रों द्वारा सुनाया गया यथार्थ । उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कोई सुनी हुई अथवा देखी हुई घटना उनके मस्तिष्क में तब तक अंकित रहती है, जब तक कि वह रचना के रूप में अभिव्यक्ति नहीं पा लेती । आशय यह है कि क्या-लेखन नागार्जुन के उपन्यासकार व्यक्तित्व की मजबूरी थी, न कि कोई आर्थिक मजबूरी । वैसे भी, यदि नागार्जुन

के कथा-लेखन का उद्देश्य मात्र अर्थोपार्जन होता तो अपने लेखन और जीवन में सत्ता और प्रतिक्रियावादी ताकतों के वे इतने प्रबल विरोधी नहीं होते । क्योंकि सत्ता और प्रतिक्रियावादी लोगों से हाथ मिला कर वे मनचाहा अर्थोपार्जन कर सकते थे । लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया, वे आजीवन सत्ता और प्रतिक्रियावादियों का विरोध करते रहे और इसके लिए उन्हें कीमत भी चुकानी पड़ी । वस्तुत: वे सबसे अधिक महत्व लेखकीय ईमानदारी को देते थे, इसीलिए उन्होंने कभी भी प्रतिक्रियावादी ताकतों से समझौता नहीं किया । वे आर्थिक गरीबी की शर्त पर भी आजीवन इन ताकतों से संघर्ष करतेरहे । जाहिर है कि अर्थोपार्जन उनके कथा-लेखन का मुख्य उद्देश्य नहीं था । उन्होंने कहा है कि गद्य "... विचारों को व्यक्त करने केलिए अपनाई गई विधा है ।"[9] यह कथा लेखन के सम्बन्ध में नागार्जुन की दूसरी राय है, जो पहली से भिन्न और उचित भी है नागार्जुन ने इसीलिए उपन्यास लेखन अथवा गद्य लेखन को अपनाया क्योंकि इस विधा में अपने विचारों को, जीवन और जगत के व्यापक अनुभवों को सहजता सेव्यक्त किया जा सकता है । ध्यातव्य है कि निराला ने गद्य को `जीवन-संग्राम की भाषा` कहा था । उनके ऐसा कहने का आशय संभवत: यही था कि विधागत विशिष्टता के कारण गद्य में संश्लिष्ट विचारों को जितनी सरलता और सहजता के साथ व्यक्त किया जा सकता है, उतनी सहजता सरलता से पद्य में नहीं। स्वयं नागार्जुन का उपन्यास साहित्य इसका प्रमाण है कि इसके भीतर लेखक के संश्लिष्ट विचार और अनुभूतियां जिस सहजता से व्यक्त हुई हैं, वह पद्य में संभव नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचन विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि उपन्यास लेखन नागार्जुन का प्रकृत पथ है । उसे उन्होंने किसी मजबूरीवश, खास तौर से आर्थिक मजबूरीवश नहीं अपनाया है । यदि उपन्यास लिखना उनकी मजबूरी है तो इसके पीछे संश्लिष्ट विचारों और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की बेचैनी है, जिसे नागार्जुन ने बतौर उपन्यासकार महसूस किया था ।

(ii) उपन्यासकार नागार्जुन का महत्व

उपन्यासकार का महत्व उसके उपन्यासों के महत्व द्वारा परिभाषित होता है ।उपन्यास-लेखन नागार्जुन का 'प्रकृत पथ' था लेकिन स्वयं वे इस विधा के प्रति आजीवन लापरवाह बने रहे । यही कारण है कि उनका उपन्यासकार व्यक्तित्व उतना अधिक विकसित नहीं हो पाया, जितना अधिक विकसित होने की उसकी संभावना थी ।उनकी लापरवाही का सबसे बड़ा प्रमाण `बलचनमा` उपन्यास है जिसके अधूरेपन का बोध उन्हें हमेशा बना रहा और इस कारण वे संकल्प व्यक्त करते रहे कि `जो मेरा आदर्श पात्र है उसका दूसरा खण्ड लिखूंगा ।`[10] अपनी लापरवाही के कारण या `टेक्निकल असुविधा` के कारण उन्होंने इस संकल्प को कभी पूरा नहीं किया । बाद के दिनों में एक वक्तव्य जरूर दे दिया कि `पहले विचार था, दूसरा खण्ड लिखूंगा, पर अब मेरा विचार बदल गया, क्योंकि मुझे लगता है कि इसमें भी एक चमत्कार है कि शोषित भूमिहीन छोकरा वहां तक जाता है और पिट कर गिर पड़ता है । अपने आप में यह बहुत मार्मिक परिणति है ।`[11] दरअसल, यह विचार-परिवर्तन किसी ठोस तर्क पर आधारित नहीं है, इसके पीछे कारण यह है कि जिस समय उन्होंने यह वक्तव्य दिया (सन् 1978 में) उस समय वे उपन्यास-लेखन को पूरी तरह छोड़ चुके थे । इस सवाल को वे अपनी सुविधानुसार उत्तर देकर हमेशा के लिए बंद कर देना चाहते थे, इसीलिए इन दिनों उन्होंने बलचनमा के अधूरेपन को उसकी `मार्मिक परिणति` कह दिया । यही नहीं, उनके अन्य उपन्यासों में जल्दी-जल्दी निपटाने की जो प्रवृत्ति है, वह भी उनकी लापरवाही का ही परिणाम प्रतीत होती है । थोड़ी तन्मयता और गंभीरता के साथ उन्हो ने यदि उपन्यास-लेखन किया होता तो निश्चित तौर से उनके उपन्यास उन कमियों से मुक्त हो सकते थे जिनकी वजह से वे हिन्दी के प्रथम श्रेणी के उन उपन्यासों में प्रतिष्ठित नहीं

हो सके, जिनमें `गोदान', `मैला आंचल', `रेखा : एक जीवनी' आदि उपन्यासों की गणना होती है ।

शिल्प की दृष्टि से कुछ कमियों के बावजूद उनके उपन्यास संवेदना के स्तर पर बेजोड़ हैं । उनमें अपने समय और समाज की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत हुई है । लेखन में शिल्प का महत्व भी होता है, लेकिन शिल्प स्वत: लेखन की उत्कृष्टता का प्रमाण नहीं होता । यदि ऐसा है तो सिर्फ कलावादियों की रचनाएं ही श्रेष्ठ होतीं और उन प्रगतिशील रचनाकारों की रचनाएं निकृष्ट, जो किसानों मजदूरों, स्त्रियों और दलितों के लिए, उनकी भाषा में लिखते हैं । इतिहास गवाह है कि सिर्फ कला के चमत्कार के बल पर कोई भी कृति महत्वपूर्ण अथवा काल-जयी नहीं हो पाई है । इसके विपरीत वे कृतियां कालजयी होने में अथवा अपने महत्व को रेखांकित करने में सफल रही हैं, जो शिल्प की दृष्टि से कमजोर होकर भी संवेदना के स्तर पर बेजोड़ हैं । नागार्जुन का महत्व भी इसी में है कि उनके उपन्यास कुछ शिल्पगत कमजोरियों के बावजूद संवेदना के स्तर पर बेजोड़ हैं । उनका गहरा सरोकार अपने समय और समाज के किसानों, मजदूरों, स्त्रियों और अन्य शोषितों-पीड़ितों और उनकी आशाओं-आकांक्षाओं से है । इसलिए उनके उपन्यास हिन्दी में महत्वपूर्ण उपन्यास कहलाने के हकदार हैं । डा० रामविलास शर्मा ने उपन्यासकार नागार्जुन के महत्व की पहचान करते हुए सही लिखा है कि `नागार्जुन को अमर कथाकार बनाने के लिए मेरी निगाह में बलचनमा और `रतिनाथ की चाची' - दो कृतियां ही काफी हैं ।'[12] हिन्दी के एक समर्थ आलोचक की इस टिप्पणी के बाद यही कहा जा सकता है कि नागार्जुन एक महत्वपूर्ण कवि ही नहीं, उपन्यासकार भी हैं ।

संदर्भ

1. रामविलास शर्मा, राल्फ फाक्स की अनूदित पुस्तक, 'उपन्यास और लोकजीवन' की भूमिका से उद्धृत, पृ0 8
2. कुंवरपालसिंह, नागार्जुन के उपन्यासों में जनसंघर्ष और परिवर्तन के स्वर - उद्भावना (नागार्जुन विशेषांक), पृ0 67
3. विजय मोहन सिंह, नागार्जुन के उपन्यास : ग्राम जीवन के अर्ध-विराम - हंस (उपन्यास विशेषांक), पृ0 130
4. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 170
5. माहेश्वर, संवाद (इंटरव्यू) - वागर्थ, जुलाई 1996, पृ0 33
6. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 33
7. राल्फ फाक्स, उपन्यास और लोक जीवन, पृ0 15
8. शमशेर, प्रतिनिधि कविताएँ (सं0 नामवर सिंह) पृ0 43
9. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार, पृ0 170
10. वही, पृ0 48
11. वही, पृ0 49-50
12. रामविलास शर्मा, संवाद (इंटरव्यू) - आजकल (नागार्जुन विशेषांक), जून 1996, पृ0 3

उपसंहार

उपन्यास अपनी प्रकृति में सर्वाधिक युग-सापेक्ष विधा है । उसका स्वभाव ही ऐसा है कि युग की हलचलों से वह अपने को निरपेक्ष नहीं रख सकता । उपन्यास अपने उदय के आरंभिक काल से ही अपने समाज और परिवेश की सभी प्रमुख घटनाओं को चित्रित करने में पूरी तरह सफल रहा है । इस सन्दर्भ में हिन्दी उपन्यास की उपलब्धियां निश्चित रूप से सराहनीय हैं । इसने जिस संवेदना के साथ अपने समाज और परिवेश की सभी प्रमुख घटनाओं को चित्रित किया है, वह इसकी गहरी युग-सापेक्षता का प्रमाण है ।हिन्दी उपन्यास का इतिहास लगभग सौ साल पुराना है और सुखद तथ्य यह है कि इस कालखण्ड की सभी प्रमुख घटनाओं को चित्रित करने में वह पूरी तरह सफल रहा है । महान् साहित्य, विशेषकर उपन्यास, अपने युगीन संदर्भों से ही नहीं, युग-युग के प्रमुख संदर्भों से भी गहरे रूप में प्रभावित होता है । इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास-साहित्य की महानता निर्विवाद है, क्योंकि उसने अपने युगीन संदर्भों को चित्रित करने के अलावा पीछे के उन प्रमुख संदर्भों को भी चित्रित किया हैजिनकी प्रासंगिकता युग-विशेष की सीमाओं से परे है ।

उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता की जांच हिन्दी उपन्यास के ऐतिहासिक विकास-क्रम के संदर्भ में की जा सकती है ।आम तौर से लाला श्रीनिवासदास के `परीक्षा गुरु` को हिन्दी का पहला उपन्यास माना जाता है । हिन्दी का यह पहला उपन्यास ही अपने युगीन परिस्थितियों से कितना प्रभावित है, इसका बोध इसे पढ़कर ही हो जाता है । इसमें चित्रित नवजागरणकालीन प्रवृत्तियां तत्कालीन परिस्थितियों की उपज हैं । हिन्दी के इस आरंभिक उपन्यास ने अपने समय की वास्तविकता को

जिस संवेदना से चित्रित किया, उसका प्रवाह आगे भी बना रहा । हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचन्द के आगमन ने इस प्रवाह को और अधिक विकास और विस्तार दिया । उनके उपन्यासों में चित्रित समाज और परिवेश तत्कालीन भारत की ऐतिहासिक परिस्थितियों की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत करता है । उनके यहां साम्राज्यवाद, सामंतवाद का अत्याचार, शोषण और उसमें पिसते हुए किसान-जीवन का जो आख्यान प्रस्तुत हुआ है, वह प्रेमचंद के समय की वास्तविकता है । प्रेमचंद के बाद के उपन्यासकारों के यहां भी गहरा युग-बोध मौजूद है । चाहे मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखकों की परंपरा हो, सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास लेखकों की अथवा ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों की, सभी के यहां अपने समय के प्रमुख संदर्भ मौजूद हैं - कहीं तीखे रूप में तो कहीं हलके रूप में । स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास लेखन का परिदृश्य कई अर्थों में पहले से भिन्न है । इस समय उपन्यास के क्षेत्र में मुस्लिम, महिला और दलित लेखकों की सक्रिय उपस्थिति के कारण जहां समाज और परिवेश के नये नये सन्दर्भों को लेखन में महत्व मिला है, वहीं युग की सच्चाइयों को देखने की दृष्टि भी बदली है । उपन्यास-साहित्य में महिला और दलित समाज पर पहले से ही लिखा जाता रहा है - भले ही, गैर-महिला और गैर-दलित लेखकों द्वारा । इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों में मुस्लिम समाज की उपस्थिति निश्चय ही नई, किन्तु महत्वपूर्ण घटना है । क्योंकि, इससे पहले प्रेमचंद को छोड़कर किसी भी उपन्यासकार के यहां मुस्लिम-समाज अपने सुख-दुख और आशाओं-आकांक्षाओं के साथ उपस्थित नहीं हुआ है । संपूर्ण उपन्यास साहित्य में मुस्लिम समाज की अनुपस्थिति एक दुखद घटना है ।इसलिए, मुस्लिम लेखकों के आगमन के बाद हिन्दी उपन्यास में मुस्लिम समाज की जोउपस्थिति दर्ज हुई है, वह निश्चय ही सराहनीय है । उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी उपन्यास समय के जिस प्रवाह में गतिशील रहा है, वह उसके प्रमुख सन्दर्भों को भी चित्रित करता रहा है ।

समय और परिवेश के प्रमुख सन्दर्भों को अपने उपन्यासों में चित्रित करने वालों में नागार्जुन महत्वपूर्ण हैं । उनके उपन्यासों में तत्कालीन भारत की प्रमुख स्थितियों और घटनाओं की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत हुई है ।उनके उपन्यासों की प्रमुख विशेषता यह है कि वे युग की स्थूल घटनाओं की सिर्फ फेहरिस्त ही नहीं प्रस्तुत करते, बल्कि युगीन घटनाओं से जनता पर पड़ने वाले प्रभाव और उसकी मानसिक हलचलों को भी अभिव्यक्त करते हैं । नागार्जुन के उपन्यासों में अभिव्यक्त कालखण्ड आजादी के पूर्व से लेकर आजादी के बाद तक फैला हुआ है । आश्चर्यजनक लगता है कि इस लम्बे कालखण्ड का कोई भी प्रमुख संदर्भ नागार्जुन की पैनी नजर से बच नहीं पाया है । उनके उपन्यासों में इस काल की सभी आंतरिक और बाह्य हलचलें अपनी समग्रता में मौजूद हैं ।

नागार्जुन के `बलचनमा` और `रतिनाथ की चाची` उपन्यासों में जहां आजादी से पूर्व के भारतीय समाज और परिवेश की अंत: तथा बाह्य हलचलों को व्यक्त किया गया है, वहीं `वरुण के बेटे` में आजादी के बाद की हलचलों को ।

नागार्जुन के उपन्यासों का अपने समय की राजनीति से गहरा सरोकार है । `बलचनमा` में भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन (विशेषकर तीस के दशक और उसके बाद का) और उस दौर के विभिन्न राजनीतिक संदर्भों पर गंभीर विमर्श प्रस्तुत हुआ है । इस उपन्यास में भारतीय जनमानस और भारतीय राजनीति पर गांधी जी के व्यापक प्रभाव तथा स्वाधीनता की लड़ाई में गांधी जी और कांग्रेस की भूमिका का रेखांकन किया गया है । यहां उल्लेखनीय है कि गांधी जी और गांधीवादियों के प्रति नागार्जुन की दृष्टि आलोचनात्मक रही है ।यही कारण है कि उनके यहां जो गांधी-वादी (कांग्रेसी) चरित्र चित्रित हुए हैं, वे भ्रष्ट, बेईमान और दोमुंहे चरित्र वाले हैं । या फिर, जो ईमानदार और सद्चरित्र कांग्रेसी हैं उनकी परिणति कांग्रेस से पलायन में दिखाई गई है । कांग्रेस के प्रति नागार्जुन

की आलोचनात्मक दृष्टि का कारण उनका वामपंथी होना है । यह महज संयोग नहीं है कि `बलचनमा` के राधाबाबू के समाजवादी हो जाने पर बलचनमा के मन में, प्रकारान्तर से लेखक के मन में, राधाबाबू के प्रति `सधा ` उत्पन्न हो जाती है । इस उपन्यास में समाजवादियों के प्रति जो सहानुभूति व्यक्त की गई है या समाजवादी चरित्रों की जो ईमानदार कर्मठ और संघर्षशील छवि रची गई है, उस के पीछे भी नागार्जुन की वामपंथी दृष्टि की महत्वपूर्ण भूमिका है । `रतिनाथ की चाची ` में युगीन राजनीति और उससे जुड़े विभिन्न संदर्भों पर अपेक्षाकृत कम चर्चा हुई है । इस उपन्यास में राजनीति का जो वैचारिक विमर्श प्रस्तुत हुआ है, उसका स्वर भी कुल मिलाकर `बलचनमा` की भांति गांधीवाद और कांग्रेस विरोधी है । गांधीवाद का विरोध करते हुए भी नागार्जुन यहां गांधीवाद से, खास तौर से गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम से, प्रभावित लगते हैं । इस उपन्यास की नायिका गौरी (चाची) स्वावलंबी होने के लिए चरखा चलाती हैं, वह अपने निजी जीवन में भी एक हद तक गांधीवादी मूल्यों से प्रभावित लगती हैं । आजादी के बाद की परिवर्तित भारतीय राजनीति और उससे जुड़े विभिन्न सन्दर्भों की यथार्थ तस्वीर `वरुण के बेटे ` उपन्यास में प्रस्तुत हुई है । कांग्रेस और कांग्रेसियों का भ्रष्ट और अनैतिक चरित्र यहां भी दिखाया गया है । यहां तक आते-आते लेखक की प्रतिबद्धता समाजवादियों से साम्यवादियों की ओर परिवर्तित हो जाती है । इस उपन्यास के मोहन मांझी का साम्यवादी होना और इस पात्र के प्रति लेखक की गहरी सहानुभूति नागार्जुन की साम्यवाद में गहरी आस्था होने का परिणाम और प्रमाण दोनों हैं । इस उपन्यास में व्यक्त राजनीतिक विमर्श इसलिए भिन्न है कि `बलचनमा` और `रतिनाथ की चाची` में जहां राजनीति में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी नहीं दिखाई देती है, वहीं इसमें राजनीति में महिलाओं को सक्रिय भागीदारी करते हुए दिखाया गया है ।

दरअसल, यह अंतर एक युग का अंतर है, जिसके कारण `वरुण के बेटे` में राजनीति में महिलाओं की बढ़ती हुई सक्रिय भागीदारी का रेखांकन किया गया है । इस उपन्यास की मधुरी आजादी के बाद की स्त्री है जिसमें सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय हिस्सेदारी करने की गहरी चेतना मौजूद है ।

नागार्जुन के उपन्यासों में जहां गांधीवाद और कांग्रेसी चरित्र का गंभीर विमर्श प्रस्तुत हुआ है, वहीं युगीन किसान आन्दोलन, विशेषकर बिहार के किसान आन्दोलन की भी विस्तार से चर्चा हुई है । यहां भी लेखक का दृष्टिकोण गांधीवाद और कांग्रेस के प्रति बहुत तीक्ष्ण रहा है । नागार्जुन का किसान जीवन और किसान आन्दोलन, विशेष कर बिहार के किसान आन्दोलन से गहरा सम्बन्ध रहा है । यह अनायास नहीं है कि उनके सभी उपन्यासों में, यहां तक कि `रतिनाथ की चाची` में भी - जो ठेठ स्त्री-जीवन की विडंबना का आख्यान है - किसान आन्दोलन गहरे अर्थों में विद्यमान है । उनके `बलचनमा` उपन्यास में स्वामी सहजानंद के नेतृत्व में चलने वाले बिहार किसान आन्दोलन - जिसमें स्वयं नागार्जुन सक्रिय रूप से भागीदार थे - को व्यापक रचनात्मक अभिव्यक्ति दी गई है । इसमें दिखाया गया है कि किस तरह उस युग के किसान साम्राज्यवाद और सामंतवाद के अत्याचार एवं शोषण की चक्की में पिस रहे थे तथा इससे मुक्ति के लिए संघर्ष भी कर रहे थे । यहां आ कर किसान `मजूर` बन जाता है । वह गोदान के होरी की तरह `मजूर` बनने की प्रक्रिया में नहीं है, बल्कि बलचनमा की तरह विधिवत `बेगार` अर्थात् `मजदूर` बन चुका है । बेदखली और भयंकर लगान की उगाही` के कारण यहां बलचनमा जैसे किसान अपनी भूमि से हाथ धोकर बेगारी करने पर मजबूर हैं । परन्तु `बलचनमा` के किसान इस अर्थ में `गोदान` के किसानों से भिन्न हैं कि वे संघर्ष की चेतना से लैस हैं । उन्हें अपनी पराधीनता का बोध है । इस पराधीनता को वे अपनी नियति नहीं मान

लेते, बल्कि इसके खिलाफ विद्रोह करते हैं - मुसर विद्रोह ।`बलचनमा` के किसान अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ते हैं । इस लड़ाई में जहां समाजवादी नेता किसानों का साथ देते हैं, वहीं कांग्रेसी या तो तटस्थ रहते हैं या अन्दर ही अन्दर जमींदारों और उनके साथियों का समर्थन करते हैं । स्वामी सहजानंद सरस्वती का हवाला देकर नागार्जुन यह बतलाते हैं कि कांग्रेस पर जमींदारों का वर्चस्व है, इसलिए स्वाभाविक रूप से यह पार्टी जमींदारों की समर्थक और किसानों की विरोधी है । `रतिनाथ की चाची ` में नागार्जुन ने कांग्रेस के किसान विरोधी चरित्र का उद्घाटन किया है । इस उपन्यास में उन्होंने 1937 में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल के गठन का जिक्र करते हुए बताया है कि इसका चरित्र भी जमींदार समर्थक और किसान विरोधी था । इसका कारण है । उन्होंने यह माना कि यह सरकार जमींदारी उन्मूलन करने में असफल रही । यहां विचारणीय तथ्य है कि कुछ वैधानिक और व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण जमींदारी उन्मूलन का फैसला लेना कांग्रेसी मंत्रिमण्डल के अधिकार क्षेत्र से बाहर था । `बलचनमा` और `रतिनाथ की चाची` में जहां स्वाधीनता-पूर्व के किसान जीवन और किसान-आन्दोलन का चित्रण हुआ है, वहीं `वरुण के बेटे` में आजादी के बाद के किसान जीवन और किसान आन्दोलन का । जाहिर है कि इसमें चित्रित किसान आन्दोलन का स्वरूप भी प्रथम, दो उपन्यासों के किसान आन्दोलन से भिन्न है । यहां किसानों की लड़ाई जमींदारी-प्रथा के खिलाफ नहीं, बल्कि उन लोगों के खिलाफ है जो जमींदारी-उन्मूलन कानून की कमियों का लाभ उठाकर आजादी के बाद भी जमींदार बने हुए थे ।`वरुण के बेटे ` का किसान आन्दोलन कुछ खास लोगों तक सीमित न होकर व्यापक जनाधार से जुड़ता है जिसमें महिलाएं और भूमिहीन मजदूर भी सक्रिय हिस्सेदारी करते हैं । इस उपन्यास का मोहन मांझी किसानों और मेहनतकश मजदूरों की एकता, जाति पर आधारित संगठनों की निरर्थकता

और वर्गीय आधार पर संगठनों के गठन का समर्थन करके आजादी के बाद के किसान आन्दोलन को नया आयाम देता है । किसान आन्दोलन की तरह मजदूर-आन्दोलन, खास कर औद्योगिक मजदूर आन्दोलन की मौजूदगी, नागार्जुन के उपन्यासों में नगण्य है । इस का कारण है कि वे किसान-जीवन और किसान-आन्दोलन से जितना सक्रिय रूप से जुड़े रहे, उतना मजदूर जीवन और मजदूर आन्दोलन से नहीं । फिर भी, उनके उपन्यासों में बलचनमा जैसे बाल मजदूर और मकुओं जैसे श्रमिकों के जीवन से जुड़े विभिन्न सन्दर्भ मौजूद हैं ।

नागार्जुन के उपन्यासों में युगीन सामाजिक परिस्थितियों की विस्तार से चर्चा हुई है। नागार्जुन ग्रामीण जीवन के उपन्यासकार हैं, इसलिए उनके उपन्यासों में मुख्य रूप से ग्रामीण जीवन की सामाजिक परिस्थितियां ही चित्रित हुई हैं । ग्रामीण समाज अपनी प्रकृति में अपेक्षाकृत अधिक जटिल और जड़ है, इसलिए इस समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया भी उतनी तीव्र नहीं होती, जितनी शहरी समाज में । नागार्जुन के उपन्यासों में जो सामाजिक परिस्थितियां चित्रित हुई हैं, वे बहुत अधिक परिवर्तनगामी नहीं हैं। उन पर युगीन समाज-सुधार और समाज-कल्याण आन्दोलनों का भी कोई विशेष प्रभाव नहीं है । लेकिन, नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित ग्रामीण परिवेश भी उससे एक हद तक प्रभावित है, उसे नकारा नहीं जा सकता । आजादी के बाद भारतीय गांव का परंपरागत सामाजिक ढांचा तेजी से बदलता है । 'वरुण के बेटे' में नागार्जुन ने ग्रामीण समाज के बदलते हुए स्वरूप का रेखांकन किया है । इस उपन्यास का मोहन मांझी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को लक्षित करते हुए कहता है कि अब जाति पांति की पुरानी दीवारें ढह रही हैं और निम्न जातियों की राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में भागीदारी बढ़ रही है । इस उपन्यास में यह दिखाया गया है कि बदली हुई

स्थितियों में किस प्रकार छोटी जातियों में उभार आ रहा है और वे अपनी अस्मिता का रेखांकन किस रूप में कर रही हैं । यहां आकर स्त्री का स्वरूप भी बदल जाता है। `रतिनाथ की चाची` की गौरी सामंती व्यवस्था और सामंती मूल्यों के शोषण में पिस कर दम तोड़ देती है । फिर भी इस शोषण के खिलाफ उनके मुंह से कोई विरोध अथवा विद्रोह का स्वर नहीं फूटता । जबकि, वरुण के बेटे की मधुरी स्त्री-चेतना से युक्त है । वह शोषण की चक्की में पिसना नहीं जानती है । वह गौरी की भांति पुरुष से सांस्कृतिक वर्चस्व को सहज रूप से स्वीकार कर लेने के बजाए इसकेखिलाफ मुखर विद्रोह करती है । वह अपने `बौड्म` पति को छोड़ देती है और पुरुष पर आश्रित हुए बिना स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व की परिकल्पना करती है । वस्तुत: आजादी से पूर्व के सामंती स माज में जहां स्त्री की पराधीनता का आख्यान `रतिनाथ की चाची` में प्रस्तुत हुआ है, वहीं सामंती रूढ़ियों से मुक्ति केलिए संघर्ष करती हुई स्त्री का आख्यान `वरुण के बेटे` में । स्त्री जीवन के अलावा जाति-भेद, लिंग-भेद और ऊंच-नीच से जुड़े विभिन्न सामाजिक सन्दर्भ भी नागार्जुन के इन उपन्यासों में चित्रित हुए हैं ।

ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों के कारण भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों को नागार्जुन के उपन्यासों ने चित्रित किया है । यह तथ्य है कि ब्रिटिश सरकार की गलत आर्थिक नीतियों के कारण किसान और मजदूर दिन-प्रति-दिन निर्धन होते जा रहे थे जबकि पूंजीपति और जमींदार पहले की अपेक्षा अधिक समृद्ध । जाहिर है कि पूंजीपति जमींदार और उनके प्रतिनिधि, किसानों मजदूरों के बेइंतहा शोषण के बल पर धनी हो रहे थे । `बलचनमा` तथा `रतिनाथ की चाची ` में जमींदारों को अत्याचार और शोषण के बल पर सम्पन्न होते हुए दिखाया गया है । इन उपन्यासों में यह भी दिखाया गया है कि चौतरफा शोषण की चक्की में पिसकर एक किसान किस गरीबी और

ज़हालत की स्थिति में पहुंच गया है । `बलचनमा` के बलचनमा और उस के परिवार को भर पेट खाना भी नसीब नहीं होता है । वह स्वयं अपने मालिकों का `जूठन` खाकर गुजारा करता है जबकि उसकी मां और दादी `गुठलियों का गुदा` तक `चूर-चूर कर` फांकती हैं । आजादी के पहले किसान जिस निर्धनता और ज़हालत की जिन्दगी को जीता है, कमोबेश उसकी वही स्थिति बाद में भी बनी रहती है । स्पष्ट है कि आजादी के बाद, सारी स्थितियों में परिवर्तन के बावजूद एक गरीब किसान की आर्थिक स्थिति में कोई खास परिवर्तन लक्षित नहीं होता है । बलचनमा की भांति `वरुण के बेटे `का सुरसुन भी गरीबी और ज़हालत भरी जिन्दगी जीता है । नागार्जुन ने आर्थिक दृष्टि से बढ़ती हुई विषमता के अलावा नवोदित मध्यवर्ग, उसके चरित्र और स्वाधीनता आन्दोलन में उसकी भूमिका का रेखांकन भी किया है ।

लेखक की विचारधारा उसकी रचना-प्रक्रिया को प्रभावित करती है । यह कथ्य के चुनाव उसके प्रस्तुतीकरण और पात्रों के चरित्रांकन में उसकी मदद करती है । नागार्जुन कुछ अंतर्विरोधों के बावजूद वामपंथी विचारधारा से प्रतिबद्ध रचनाकार हैं । इस विचारधारा से उनकी प्रतिबद्धता का कारण है कि नागार्जुन जिस किसान, मजदूर, स्त्री और दलित शोषित वर्ग के हितों की बात करते हैं, वामपंथी विचारधारा भी उसका समर्थन करती है। इस विचारधारा से प्रतिबद्ध होने के कारण उनके उपन्यासों में किसानों, मजदूरों, स्त्रियों और पिछड़ों के प्रति सहानुभूति और शोषक शक्तियों के प्रति विरोध का प्रबल भाव विद्यमान है ।

नागार्जुन के उपन्यास प्रेमचंद की समाजवादी यथार्थवादी परंपरा से जुड़ते हैं। शिल्प के स्तर पर नागार्जुन के उपन्यास बहुत सशक्त नहीं

कहे जा सकते । उपन्यास-लेखन में जिस गंभीरता और तन्मयता की अपेक्षा होती है, उसका उनके यहां अभाव है । उपन्यास-लेखन में कला के उपयोग को लेकर वे बहुत सजग ही नहीं हैं । लेखन के प्रति उनमें लापरवाही की प्रवृत्ति विद्यमान है, जिसके कारण उनके चरित्रों का अपेक्षित विकास नहीं हो पाया है। प्रसंगों और घटनाओं में जो संगति अपेक्षित है, उनके यहां प्राय: इसका भी अभाव है । उनमें लेखकीय क्षमता का अभाव है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि जहां भी उन्होंने गंभीर और तन्मय होकर लिखा है, वहां अपनी लेखकीय क्षमता का अद्भुत परिचय दिया है । विचारधारा के प्रति अधिक आग्रह के कारण भी उनकेउपन्यास कहीं-कहीं कमजोर हुए हैं, यद्यपि लेखक में विचारधारा के उपयोग को लेकर काफी संयम है । यहां उल्लेखनीय है कि कुछ शिल्पगत कमजोरियों के बावजूद उनके उपन्यास संवेदना के स्तर पर बेजोड़ हैं । किसी कृति की शिल्पगत शक्ति या सीमाएं उसके मूल्यांकन की एकमात्र कसौटी नहीं होती हैं ।कृति की उत्कृष्टता या निकृष्टता की परख में उसकी संवेदना की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । इस दृष्टि से नागार्जुन के उपन्यास हिन्दी उपन्यास-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं ।

नागार्जुन हिन्दी के एक महत्वपूर्ण कवि ही नहीं, उपन्यासकार भी हैं । लेकिन विडंबना यह है कि हिन्दी में जितनी अधिक चर्चा उनके कवि व्यक्तित्व को लेकर हुई है, उतनी उनके उपन्यासकार को लेकर नहीं । हिन्दी में उन्हें एक कवि के रूप में जो प्रतिष्ठा प्राप्त है, वह उपन्यासकार के रूप में नहीं । क्या कारण है कि नागार्जुन के उपन्यासकार को अपेक्षित महत्व नहीं मिल पाया है ? क्या उपन्यास-लेखन उनका `प्रकृत-पथ` नहीं है या उनके उपन्यासकार में क्षमता का अभाव है ? नागार्जुन के उपन्यासों को पढ़कर लगता है कि उपन्यास लेखन उनका उतना ही`प्रकृत-पथ`

है, जितना कि काव्य-लेखन । उनके उपन्यास इस बात के प्रमाण हैं कि उनमें लेखकीय क्षमता का अभाव नहीं है । यदि किसी चीज का अभाव है, तो वह तन्मयता और गंभीरता का । नागार्जुन नेयायावरी वृत्ति के कारण स्वयं भी अपने उपन्यासकार के प्रति लापरवाही की । जाहिर है कि उनके उपन्यासकार व्यक्तित्व को अपेक्षित महत्व न मिलने के लिए जितना हिन्दी का समीक्षा जगत दोषी है, उससे कम दोषी नागार्जुन नहीं हैं । इन सारी परिस्थितियों के बावजूद, नागार्जुन के उपन्यास इस बात के प्रमाण हैं कि वे हिन्दी के महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं ।

ग्रन्थानुक्रमणिका

परिशिष्ट (क) आधार ग्रन्थ

1. नागार्जुन, रतिनाथ की चाची, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण (पेपर बैक्स) 1998
2. नागार्जुन, बलचनमा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण (पेपर बैक्स) 1997
3. नागार्जुन, वरुण के बेटे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण (पेपर बैक्स) 1985

परिशिष्ट (ख) सहायक ग्रन्थ

1. नागार्जुन, कुंभीपाक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण (पेपर बैक्स)
2. नागार्जुन, बाबा बटेसरनाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1975
3. नागार्जुन, नई पौध, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1953
4. नागार्जुन, दुखमोचन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1957
5. नागार्जुन, हीरक जयंती, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1962
6. नागार्जुन, उग्रतारा, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1963
7. नागार्जुन, जमनिया का बाबा, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1968

8. नागार्जुन, पारो, संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण, 1975

9. नागार्जुन, प्रतिनिधि कविताएं (संपादक नामवर सिंह), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण (पेपर बैक)

10. नागार्जुन, मेरे साक्षात्कार (संकलनकर्ता शोभाकांत), किताबघर दिल्ली, पहला संस्करण, 1994

11. अमृतराय, विचारधारा और साहित्य, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण

12. गोपाल कृष्ण शर्मा, मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1990

13. चन्द्रकान्ता बांदिविडेकर, उपन्यास : स्थिति और गति, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1977

14. तेजसिंह, नागार्जुन का कथा साहित्य, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1993

15. नंददुलारे वाजपेयी, राष्ट्रीय साहित्य, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण 1996

16. निर्मला जैन और कुसुम बांठिया, पाश्चात्य साहित्य चिंतन राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1994

17. बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1994

18. बाबूराम गुप्त, उपन्यासकार नागार्जुन, श्याम प्रकाशन, जयपुर प्रथम संस्करण, 1985

19. बिपिन चन्द्र,भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1992

20. महावीर अग्रवाल (संपादित) नागार्जुन : विचार सेतु श्री प्रकाशन, दुर्ग, प्रथम संस्करण, 1996

21. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका
हरियाणा साहित्य अकादमी, प्रथम संस्करण 1989

22. मार्क्स एण्ड एंगेल्स, आन लिट्रेचर एण्ड आर्ट, प्रोग्रस मास्को,
संस्करण 1976

23. रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा, राजकमल
प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1982

24. रामदरश मिश्र, हिन्दी गद्य साहित्य : आधुनिक आयाम,
परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1994

25. राल्फ फाक्स, उपन्यास और लोकजीवन (अनुदित) पीपुल्स
पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, तीसरा संस्करण, 1982

26. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन,
नई दिल्ली, पांचवां संस्करण, 1993

27. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास,
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पंचम संस्करण 1996

28. रामचन्द तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय
प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, 1992

29. सत्या एम राय (संपादित), भारत में राष्ट्रवाद, हिन्दी माध्यम
कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
तृतीय संस्करण, 1991

30. सुमित सरकार, आधुनिक भारत (अनुदित) राजकमल प्रकाशन,
नई दिल्ली, पहला संस्करण, 1992

31. शिवप्रसाद मिश्र, नागार्जुन के उपन्यासों में सामाजिक चेतना
श्यामा प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण

परिशिष्ट (ग) : पत्र-पत्रिकाएं

1. आलोचना के कुछ अंक

   आलोचना, जुलाई-सितम्बर 1972

   अप्रैल-जून 1970

2. आजकल के कुछ अंक

   जून 1996 (नागार्जुन विशेषांक)

   जनवरी 1999 (नागार्जुन विशेषांक)

   फरवरी 1998

3. उद्‌भावना (नागार्जुन विशेषांक) सं0 अजेय कुमार अंक 51, 52

4. कल के लिए अंक (नागार्जुन विशेषांक) सं0 जयनारायण

   अक्टूबर-दिसम्बर 1995

   कल के लिए, भाग दो (नागार्जुन विशेषांक) जनवरी-मार्च 1996

5. वागर्थ, सं0 प्रभाकर श्रोत्रिय, जुलाई 1996

6. संपर्क (नागार्जुन), सं0 सुरेश चन्द्र त्यागी, मार्च 1984

7. साहित्य वार्षिकी (इंडिया टुडे), सं0 प्रभु चावला, 1996

8. हंस के कुछ अंक

   उपन्यास विशेषांक, जनवरी 1999

   दिसम्बर 1998

   मई 1999